श्री १०८ आचार्य उमास्वामी विरचित

तत्त्वार्थ सूत्र

हिन्दी टीकाकार

स्व. पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी

संयोजक

डॉ. शेखरचन्द्र जैन, अहमदाबाद

प्रकाशक

प्रकाशचन्द्र एवं सुलोचना जैन

सैन हॉजे, कैलीफोर्निया, यू. एस. ए.

www.jainhome.org

तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय -

To get your free copy contact or Email
Jainhome@yahoo.com
Rajeev Jain & Sandhya Jain
4209 Mackin Woods Ln.
San Jose, CA 95135 USA
Tel: (408) 238-1193

अन्य प्राप्ति स्थान
श्री हीराचन्द जैन
कंचन भवन, वैशालीनगर, अजमेर
[illegible]: 0145-2641701

महावीर जयंति 11 अप्रैल 2006
चैत्र सुदी त्रयोदशी,
वीर निर्वाण संवत, 2532

मूल्य : निःशुल्क स्वाध्याय हेतु

प्रकाशक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित कॉपी राइट 2006
[illegible] 2006

मुद्रक
कुन्थुसागर ग्राफिक्स सेन्टर
25, *शिरोमणी बंगलोज,*
बरोडा एक्सप्रेस हाईवे के सामने,
अमराईवाड़ी, अहमदाबाद-380026
[illegible]. : (079) 25850744

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय

आज के युग में सांसारिक झंझटों में फँसे हुये गृहस्थों के लिये आत्म हितकारी सुलभ साधन जुटाना अत्यन्त आवश्यक एवं उपादेय है । स्वाध्याय व शास्त्राभ्यास आत्महित के लिये सर्वोत्तम साधन है ।

आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित इस ग्रन्थ का दिगम्बर जैन समाज में महत्वपूर्ण स्थान है । जैन आगम में संस्कृत भाषा में रचा गया सर्वप्रथम शास्त्र होने से इसका महत्व और भी बढ़ गया है । इस शास्त्र पर श्री पूज्यपाद स्वामी, अकलंक स्वामी और विद्यानन्दि स्वामी जैसे समर्थ आचार्य देवों ने, विस्तृत टीका रचना की है। श्री सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, *अर्थ* प्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसी शास्त्र की टीकाएँ हैं । स्व. पं. श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने इस पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जन-जन के हितार्थ हिन्दी टीका बड़ी ही सुन्दर व सरल तरीके से की है । स्वयं ही टीका को और भी सरल करने हेतु शंका-समाधान किये हैं, एवं कहीं-कहीं विशेषार्थ भी किये हैं जिससे आत्मार्थी बन्धुओं व छात्रों के लिये यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हुआ है ।

आर्यिका श्री १०५ विशालमति माताजी की सद्प्रेरणा से मुझे इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन कराने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । जिसे मैंने समाज के प्रबुद्ध वर्गों के सहयोग से पूर्ण करने की चेष्टा की है। *इस ग्रन्थ के प्रकाशन में पं. श्री विद्याकुमार जी सेठी का भी सहयोग मुझे मिला।*

सभी साधर्मी बन्धुओं को जिन्होंने ग्रन्थ प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान कर इसके मूल्य को स्वाध्याय हेतु प्रेरित किया, मैं उन्हें कोटिशः धन्यवाद देती हूँ ।

आशा है साधर्मी बन्धु इस ग्रन्थ के शास्त्र स्वाध्य्य से आत्म कल्याण कर मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर होंगे, इसी मंगल कामना के साथ......।

श्रीमती कनक जैन
२९८, नया बाजार
अजमेर (राज.)
दिनांक : २२ सितम्बर १९९१

प्रकाशकीय
(द्वितीय संस्करण)

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ उमास्वामि विरचित ''तत्त्वार्थ सूत्र'' संस्कृत भाषा की अनुपम कृति है । यह जैन धर्म का महत्व पूर्ण ग्रन्थ है । जैन धर्म का मुख्य प्रयोजन चतुर्गति यानी निगोद, नरक, तिर्यंच, देव ओर मनुष्य गतियों के भंवर जाल में फंस कर दुःख पाते हुये संतप्त प्राणियों को बाहर निकाल कर अखंड अविनाशी परम आत्मीय सुख के धाम मोक्ष में सदाकाल के लिये प्रतिष्ठापित करना है और दुर्गति से छुड़ा के सुगति की ओर ले जाना है ।

विषय भोगों की चाह में तीव्र आसक्त हुए कभी न भरने वाली आशा की गहन खाई में डूबे हुए, जन्म जन्मांतर के कुचक्र में फंसे संसार के प्राणियों को मोक्ष का उपाय बताने वाले 'तीर्थंकर' प्राकृतिक रूप से इस धरती पर शुभ नक्षत्रों के अपूर्व मिलन से भव्य जीवों के भाग्योदय से ही जन्म लेते हैं । वे स्वयं के पुण्योपार्जन से मिली अतुल राज्य वैभव व भोग सम्पदा के होते हुये भी उसे तुच्छ मानकर त्याग देते हैं । संसार से वैराग्य धारण कर तपस्या द्वारा संपूर्ण घातिया कर्मों का नाश कर पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ केवली बन कर सर्व हित का उपदेश देते हैं । तीर्थंकर केवली की ही वाणी मोक्षमार्ग में प्रामाणिक होती है क्योंकि वे ही इस संसार से पूर्ण अलिप्त रहकर भी सम्पूर्ण लोक और अलोक के कण-कण को और हर जीव की भूत-भविष्य और वर्तमान सभी त्रैकालिक अनन्त पर्यायों को सर्व क्षेत्र काल भाव और भव से युगपद जानते व देखते हैं ।

ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ तीर्थंकर की वाणी का जिन प्राणियों को अवलंबन है, स्व और पर सभी प्राणी मात्र के लिये जिनके हृदय में अनुकम्पा या दया भाव है, ऐसे प्राणी ही अपने दृढ़ निश्चय और पुरूषार्थ के बल पर जिनवाणी के दीपक को साथ ले, चारित्र रथ पर आरूढ हो,

मुक्ति गढ़ के सुदृढ़ कपाट खोल कर प्रवेश करते हैं और सदा काल के लिये अनन्त सुख में निमग्न हो कृतकृत्य हो जाते हैं।

प्राय: यह कहा जाता है कि पंचम काल में मोक्ष तो होता नहीं इसलिये इसकी बात करना या इस ओर पुरूषार्थ करना बेकार है। जैन पुराणों के पढ़ने से यह जानकारी मिलती है कि मोक्ष प्राप्त करना साधारणतया एक भव के प्रयत्न का फल नहीं है बल्कि कई भवों के लगातार पुरूषार्थ करते रहने का फल है। जिन धर्म में अटूट श्रद्धा व जिन भक्ति के फल स्वरूप भव्य जीव को हर भव में उत्तरोत्तर मोक्ष मार्ग पर चलने के साधन मिलते रहते हैं। जिससे वह मोक्ष मार्ग में प्रगति करता हुआ किसी एक भव में सभी कर्मों की निर्जरा कर सिद्ध पद प्राप्त कर सकता है।

जिन सहधर्मियों को मोक्ष मार्ग में रूचि हो गई है या इस ओर कदम बढ़ रहे हैं वे जैन श्रावक के व्रत लेकर, सप्त व्यसन का त्याग व नियमित स्वाध्याय में कुछ काल प्रतिदिन व्यतीत करें और जिनवाणी में अटूट श्रद्धा रखें। दिगम्बर जैन धर्म के आचार्यों द्वारा लिखे गये मूल ग्रंथों से ज्ञान अर्जन करें। इस धर्म के अलवा और कोई मोक्ष मार्ग नहीं है बाकी सब धर्माभास हैं संसार में भटकाने के मार्ग हैं।

''तत्त्वार्थ सूत्र'' मुक्ति मार्ग की प्रस्तावना है, जिनवाणी एक समुद्र है। समुद्र मंथन से रत्न प्राप्त होते हैं। जिनवाणी मंथन से सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान दो रत्न प्राप्त होते हैं। जिनभर्ति, सुपात्र को दान और शास्त्र स्वाध्याय मोक्ष मार्ग पर चलने का गृहस्थ के लिये प्रारंभिक कदम हैं पूर्ण उपाय तो दिगम्बर निर्गन्थ साधु बन कर ही कर सकते हैं तभी तीसरा रत्न 'सम्यक्‌चारित्र' प्राप्त होगा। इसलिये सम्यक् श्रद्धान को दृढ़ रखते हुये दिगम्बर साधु बनने की भावना भाते रहना चाहिये।

मैं अपने मित्र डॉ. शेखरचन्द्रजी जैन, अहमदाबाद का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय जिनवाणी की आराधना में इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु छपाई, प्रूफ रीडिंग आदि सभी कार्यों में पूर्ण सहयोग

प्रदान किया है। उनके प्रयत्न से ही यह ग्रन्थ आप तक पहुँच सका है। मैं अपने भाई श्री हीराचन्द जैन, अजमेर का भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने प्रथम संस्करण की प्रकाशक श्रीमती कनक जैन से इस ग्रंथ को पुन: प्रकाशित करने की अनुमति दिलवाने की सहायता प्रदान की। ''तत्त्वार्थ सूत्र'' की यह सरल हिन्दी टीका पंडित शिरोमणी कैलाशचन्द्र जी शास्त्री द्वारा लिखी गई है। इस टीका से सामान्य जनों को जैन धर्म के गूढ़ सिद्धान्त आसानी से समझ में आ सकेंगे। आशा है स्वाध्याय प्रेमी सहधर्मी बन्धुजन इस से लाभ उठाकर आत्म साधना के पथ पर अग्रसर होंगे। इसी भावा से प्रेरित होकर यह द्वितीय संस्करण पाठकों को समर्पित है।

सैन हॉजे केलिफोर्निया — विनीत
महावीर जयन्ती — प्रकाशचन्द्र जैन
११ अप्रैल २००६ — सुलोचना जैन

श्री जम्बूद्वीप रचना - हस्तिनापुर

प्रस्तावना

प्रस्तुत सूत्र ग्रन्थ जैन साहित्य का आद्य सूत्र ग्रन्थ तो है ही, संस्कृत जैन साहित्य का भी यह आद्य ग्रन्थ है । उस समय तक जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही पाया जाता था तथा उसी में नये साहित्य का सृजन होता था । इस ग्रन्थ के रचयिता ने संस्कृत भाषा में रचना करने का ओंकार किया और समस्त जैन सिद्धान्त को सूत्रों में निबद्ध करके गागर में सागर को भरने की कहावत को चरितार्थ कर दिखाया । यह संकलन इतना सुसम्बद्ध और प्रामाणिक साबित हुआ कि भगवान महावीर की द्वादशाङ्ग वाणी की तरह ही यह जैन दर्शन का आधार स्तम्भ बन गया । न्याय दर्शन में न्याय सूत्रों को, वैशेषिक दर्शन में वैशेषिक सूत्रों को, मीमांसा दर्शन में जैमिनि सूत्रों को, वेदान्त दर्शन में बादरायण सूत्रों को और योग दर्शन में योग सूत्रों को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान जैन दर्शन में इस सूत्र ग्रन्थ को प्राप्त है।

जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में इसकी एक सी मान्यता और आदर है । दोनों सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्यों ने इस पर महत्वपूर्ण टीका ग्रन्थ रचे हैं। इसके "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र को आधार बनाकर अनेक दार्शनिकों ने प्रमाण शास्त्र का विवेचन किया है । दिगम्बर जैनों में तो इसके पाठ मात्र से एक उपवास का फल बतलाया है । यथा-

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवे ॥

अर्थात्- इस अध्याय प्रमाण तत्वार्थ का पाठ करने पर उपवास का फल होता है ऐसा मुनि श्रेष्ठों ने कहा है ।

इस ग्रन्थ का प्रथम सूत्र "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" है जिसके द्वारा इसमें मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है, यही इसका प्रधान विषय है । इसीसे इसको मोक्षशास्त्र भी कहते हैं । तथा दूसरा सूत्र है- "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।" इसमें तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाकर आगे दसों अध्यायों में सात तत्त्वों का ही विवेचन क्रमवार किया है । अर्थात प्रथम चार अध्यायों में जीव तत्व का, पाँचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का, छठे और सातवें अध्याय में आस्त्रव तत्त्व का, आठवें अध्याय में बन्ध तत्त्व का, नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्व का

तथा दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है। इस पर से इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम तत्त्वार्थ है । यही इसका मूल नाम है; क्योंकि इस ग्रन्थ की सबसे महत्वशाली तीन टीकाओं में से पहली टीका सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थवृत्ति, दूसरी टीका को तत्त्वार्थवार्तिक और तीसरी को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नाम उनके रचयिताओं ने ही दिया है । तथा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक के रचयिता आचार्य विद्यानन्द ने तो अपनी आप्तपरीक्षा के अन्त में "तत्त्वार्थ शास्त्र" नाम से ही इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है चूँकि यह ग्रन्थ सूत्र रूप में हैं इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र नाम से ही इसकी ख्याति है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी इसी नाम से इसकी ख्याति है । इस सम्प्रदाय में जो सूत्रपाठ प्रचलित है उस पर एक भाष्य भी है जिसे स्वोपज्ञ कहा जाता है । उस भाष्य के आरम्भिक श्लोकों में तथा प्रशस्तिमें भी उसका नाम "तत्त्वार्थाधिगम" दिया हुआ है । इससे इसे 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' भी कहते हैं ।

तत्त्वार्थसूत्र एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी टीका लिखना टीकाकार के लिये एक महत् सौभाग्य की वस्तु है । इसी से जहाँ इस पर अनेक महत्वपूर्ण और साधारण संस्कृत टीकाएं रची गई हैं, हिन्दी टीकाएं भी अनेक हैं; फिर भी मेरा यह विचार हुआ कि इस ग्रन्थ पर हिन्दी में एक ऐसी टीका लिखी जानी चाहिये जिसमें सब संस्कृत टीकाओं की आवश्यक तथा उपयोगी बातें आ जायें । किन्तु जब मैंने लिखना प्रारम्भ किया तो मेरा विचार बदल गया और तब मैंने यह स्थित किया कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो उपयोगी बातें हों वही दी जायें । तथा टीका इस ढंग से लिखी जाये कि वह तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वाले और सर्वार्थ सिद्धि पढ़ने वाले छात्रों के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रेमियों के भी काम आ सके। अतः मैंने सूत्र का अर्थ तो तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वालों की दृष्टि रखकर लिखा है और विशेषार्थ तथा शङ्का समाधान प्रायः सर्वार्थसिद्धि पढ़ने वालों की दृष्टि से लिखे हैं । इसीसे विशेषार्थ से बाहर जो शंका समाधान हैं उन्हें अलग से दे दिया है । सर्वार्थसिद्धि की दार्शनिक चर्चाओं को छोड़कर उसकी प्रायः सभी सैद्धान्तिक चर्चाएं विशेषार्थों में आ गई हैं । दार्शनिक चर्चाओं को मैंने इसलिए छोड़ दिया है कि प्रथम तो उनका तत्त्वार्थसूत्र के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि उनके बिना उसके मंतव्यों को समझने में कठिनाई हो । दूसरे, वे चर्चाएँ स्वाध्याय प्रेमियों की दृष्टि से उतनी उपयोगी नहीं हैं, जितनी गहन हैं । कहीं-कहीं एक दो बात तत्त्वार्थ राजवार्तिक से

D:\VIPUL\BOO1.PM65 (5)

भी ले ली गयी हैं। इस तरह यह मेरी टीका अब तक की हिन्दी टीकाओं से कुछ भिन्न ही प्रकार की है। मैंने प्रत्येक अर्थ और विशेषार्थ को नपे तुले शब्दों में लिखा है, ज्यादा विस्तार नहीं किया है, फिर भी अपनी दृष्टि से इस ढंग से लिखा है कि पढ़नेवाला सरलता से उसे समझ जाये। वैसे तो तत्त्वार्थसूत्र के सभी विषय गहन हैं और बिना किसी के समझाये उसे समझना कठिन है।

तत्त्वार्थ सूत्र जैन पारिभाषिक शब्दों का भण्डार है अत: उसकी टीका में उन शब्दों की परिभाषाएँ आना स्वाभाविक है। जैन परिभाषाओं से अनजान व्यक्ति को कभी-कभी जैन ग्रन्थ पढ़ते हुए बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ जाता है।

यदि मेरे इस प्रयत्न से छात्रों और स्वाध्याय प्रेमियों को कुछ भी लाभ पहुँच सका तो अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

जयधवला कार्यालय, - कैलाशचंद्र शास्त्री, भदैनी, बनारस

आध्यात्मिक भजन

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै,
जातो जिनवानी न सुहावै ॥ टेक ॥

वीतराग से देव छोड़कर, भैरव यक्ष मनावै।
कल्पलता दयालुता तजि, हिंसा इन्द्रायणि बावै ॥ ऐसा ॥
गुरु निर्ग्रन्थ भेष न रूचै बहु परिग्रही गुरु भावै।
पर धन परतिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावै ॥ ऐसा ॥
पर की विभव देख ह्वै सोगी, परदुख हर्ष लहावै।
धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावै ॥ऐसा ॥
जो गृह में संचय बहु अघ, त्यों वन हू में उपजावे।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै ॥ ऐसा ॥
आरम्भ तज शठ यंत्र-मंत्र करि, जन पै पूज्य मनावै।
धाम बाम तज दासी राखै, बाहिर मढ़ी बनावै ॥ ऐसा ॥
नाम धराय यती तपसी मन, विषयन में ललचावै।
"दौलत" सो अनंत भव भटकै, औरन को भटकावै ॥ ऐसा ॥

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन दर्शन एवं संस्कृत-प्राकृत के प्रतिष्ठित विद्वान, प्रवक्ता, लेखक।

जन्म : १९०३, नहटौर (उ.प्र.)।

लगभग छः दशक तक स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी से सम्बद्ध : अध्यापक (१९२७-४०), प्रधानाचार्य (१९४०-७२), १९५६ से महाविद्यालय के अधिष्ठाता। १९४० से मन्त्री, साहित्य प्रकाशन, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा। १९४७ और १९५९ में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष। १९६३ में देवकुमार प्राच्य-विद्या शोध-संस्थान, आरा द्वारा सिद्धान्ताचार्य उपाधि से सम्मानित।

प्रमुख कृतियाँ :

जैनधर्म, दक्षिण भारत में जैनधर्म, जैन साहित्य का इतिहास, जैन न्याय, नमस्कार मन्त्र, भगवान् ऋषभदेव, प्रमाण-नय-निक्षेप, जैन सिद्धान्त और समीचीन जैनधर्म।

सम्पादन-अनुवाद :

उपासकाध्ययन, नयचक्र, कुन्दकुन्दप्राभृत-संग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड), धर्मामृत (सागार, अनगार) आदि।

भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी एवं सोलापुर की जीवराज ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक तथा साप्ताहिक जैन सन्देश पत्रिका के सम्पादक भी रहे।

निधन : १९८७, रांची (झारखण्ड)।

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

विषय	पृष्ठ नं.
मंगलाचरण	**1**
मोक्षका मार्ग	**1**
सम्यग्दर्शन आदि के क्रम के विषय में शंका-समाधान	
सम्यग्दर्शन का लक्षण	**2**
तत्त्वार्थ शब्द का अर्थ, सम्यग्दर्शन के दो भेद	
सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है ?	**3**
निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन में अन्तर	
तत्त्वों के नाम	**4**
तत्त्व सात ही क्यों?	
निक्षेपों का कथन	**5**
नाम और स्थापना में भेद	
निक्षेपों का प्रयोजन	
तत्त्वों को जानने का उपाय	**6**
प्रमाण और नय में भेद	
तत्त्वों को जानने के अन्य उपाय	**7-8**
सम्यग्दर्शन के विषय में छह अनुयोग	
सम्यग्ज्ञान के भेद	**9**
ज्ञान ही प्रमाण है	**10**
सन्निकर्ष या इन्द्रिय प्रमाण नहीं है	
प्रमाण के भेद	**10**
परोक्षका लक्षण, प्रत्यक्ष का लक्षण	**11**
मतिज्ञान के नामान्तर	**11**
स्मृतिका लक्षण	

प्रत्यभिज्ञान के भेद और लक्षण	
चिन्ता या तर्क का लक्षण	
अभिनिबोध या अनुमान का लक्षण	
मतिज्ञान के उत्पत्ति के निमित्त	**13**
इन्द्रिय शब्द व्युत्पत्ति	
मन अनिन्द्रिय क्यों	
मतिज्ञान के भेद	**14**
अवग्रह आदि भेदों का लक्षण	
अवग्रह आदि ज्ञानों के भेद	**14**
बहु बहुविध आदि का लक्षण	
बहु बहु विध आदि किसके विशेषण हैं	**15**
अर्थस्य सूत्र की आवश्यकता	
व्यंजनावग्रह	**16**
व्यंजनावग्रह सभी इन्द्रियों से नहीं होता	**17**
मतिज्ञान के ३३६ भेद	
श्रुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद	**17**
अवधि ज्ञान के भेद और उसके स्वामी	**18**
मन: पर्यय के भेद और उनमें अंतर	**20**
अवधि ज्ञान और मन: पर्यय ज्ञान में अन्तर	**21**
मति ज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय	**22**
अमूर्तिक पदार्थ मतिज्ञान के विषय कैसे हैं ?	
अवधि ज्ञान का विषय	**22**
मन: पर्यय ज्ञान का विषय	**23**
मन:पर्यय के विषय में शंका समाधान	
केवल ज्ञान का विषय	**23**
एक साथ एक आत्मा में कितने ज्ञान रह सकते हैं	**24**
तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं	**24**
ज्ञानों के विपरीत होने का हेतु	**24**

नय के भेद 25
नैगम नय का स्वरुप
संग्रह नय स्वरूप
व्यवहार नय स्वरूप
ऋृजुसूत्र नय स्वरूप
शब्द नय स्वरूप
समभिरुढ़ नय स्वरूप
एवंभूत नय स्वरूप
द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

द्वितीय अध्याय

जीव के पाँच भाव 29
पाँचों भावों का स्वरूप
पाँच भावों के भेद 30
औपशमिक भाव के भेद 30
औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र,
प्रथमोशम सम्यक्त्व, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व
पांच लब्धियाँ
क्षायिक भाव के भेद 31
उनका कार्य
सिद्धों में क्षायिक भाव
क्षायोपशमिक भाव के भेद 32
ओदयिक भाव के भेद 33
उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में लेश्या के सत्त्व को
लेकर शंका-समाधान
अन्य औदयिक भावों का इन्हीं में अन्तर्भाव
पारिणामिक भाव के भेद 35
जीव का लक्षण उपयोग 36

उपयोग के भेद 36
ज्ञान और दर्शन की चर्चा
मन:पर्यय दर्शन क्यों नहीं माना
जीव के भेद 37
पांच परिवर्तनों का निर्देश
संसारी जीव के भेद 38
जो चले वे त्रस, जो ठहरे रहें वे स्थावर, ऐसा मानने में दोष
स्थावर के भेद 39
स्थावर के चार प्राण
त्रस के भेद 40
त्रस जीवों के प्राण
इन्द्रियों की संख्या और उनके भेद 40
द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप 40
भावेन्द्रिय का स्वरूप 41
इन्द्रियों के नाम 41
इन्द्रियों का लक्षण
इन्द्रियो के विषय 42
मन का विषय 42
इन्द्रियों के स्वामी 43
संज्ञी का स्वरूप 43
"संज्ञिन:समनस्का:" इस सूत्र में दोनों पद क्यों रखे?
नया शरीर धारण करने के लिये जीव की गति 45
गति का नियम 45
मुक्त जीव की गति 46
संसारी जीव की गति का कालमान 46
ऋृजु गति का कालमान 46
अनाहार का कालमान 47
जन्म के भेद 47

योनि के भेद	48
गर्भ जन्म के स्वामी	49
उपपाद जन्म के स्वामी	49
पांच शरीरों का वर्णन	49
शरीरों में स्थूल और सूक्ष्मपन	50
तैजस और कार्मण के विषय में विशेष कथन	51
एक साथ हो सकने वाले शरीरों की संख्या	53
निरुपभोग और सोपभोग की चर्चा	53
किस जन्म से कौन शरीर होता है	54
तप के प्रभाव से होने वाले शरीर	54
आहारक शरीर का स्वरूप	55
लिंग का विभाग	56
पूरी आयु भोगकर मरने वाले जीव	56
अकाल मरण क्या है	
भुज्यमान आयु बढ़ नहीं सकती	

तृतीय अध्याय

अधो लोक का वर्णन	58
सात भूमियाँ और तीन वातवलय	59
पहली भूमि की मोटाई और उसके तीन भाग	
शेष भूमियों की मोटाई वगैरह	
भूमियों में बिलों की संख्या	
प्रत्येक भूमि में पटलों की संख्या	
प्रत्येक पटल में बिलों का विभाग, बिलों का विस्तार	
नारकियों का वर्णन	60
नरक में दु:ख	61
नारकियों की आयु	62
मध्यलोक का वर्णन	62

द्वीप और समुद्र	62
द्वीप और समुद्रों का विस्तार	62
जम्बूद्वीप, उसके क्षेत्र और पर्वतों का वर्णन	63
सुमेरु पर्वत का वर्णन	65
पर्वतों पर स्थित तालाबों का वर्णन	66
उनसे निकलने वाली नदियों का वर्णन	68
भरत क्षेत्र का विस्तार	69
अन्य क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार	70
कालकृत हानि वृद्धि	70
छह कालों का वर्णन	71
हैमवत आदि क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति	72
विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति	73
धातकी खण्ड का वर्णन	74
पुष्करार्ध का वर्णन	75
मनुष्यों के भेद	76
कर्मभूमि और भोगभूमि	77
मनुष्यों की आयु	78
पल्योपम काल का वर्णन	78
तिर्यंञ्चों की आयु	79

चतुर्थ अध्याय

देवों के चार निकाय	81
चार निकायों के भेद	81
चार निकायों के अवान्तर भेद	81
दो निकायों में इन्द्रों की संख्या	82
देवों में काम सेवन का प्रकार	83
भवनवासी देवों के भेद	84
व्यन्तर देवों के भेद	84

ज्योतिष्क देवों के भेद 85
ज्योतिष्क देवों का गमन और उसके द्वारा कालका विभाग 85
एक चन्द्र का परिवार
स्थिर ज्योतिष्क देव 86
"बहिरवस्थिताः" सूत्र की आवश्यकता
वैमानिक देवों का वर्णन 87
वैमानिक देवों के भेद 87
स्वर्ग आदि के नाम तथा उनकी अवस्थिति का वर्णन 87
बारह इन्द्र
वैमानिक देवों में अधिकता और हीनता 89
शरीर की ऊँचाई तथा उत्पाद
वैमानिकों में लेश्या का नियम 91
लोकान्तिक देवों का वर्णन 92
अनुत्तर विमानवासी देवों की विशेषता
एक भवावतारी जीव
तिर्यञ्चों की पहिचान 93
तिर्यंञ्चों का अलग लोक क्यों नहीं बतलाया
भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु 94
वैमानिकों की उत्कृष्ट आयु 96
बारहवें स्वर्ग तक ही कुछ अधिक आयु क्यों?
वैमानिकों की जघन्य आयु 96
नारकियों की जघन्य आयु 96
भवनवासियों की जघन्य आयु 97
व्यन्तर देवों की आयु 97
ज्योतिष्क देवों की आयु 97
लौकान्तिक देवों की आयु 97

पंचम अध्याय

अजीव के भेद 98
अजीव द्रव्य का विशेष कथन 99
पुद्गल 99
आकाश द्रव्य 100
प्रदेशों की संख्या 101
आकाश के प्रदेश 102
पुद्गल के प्रदेश 102
परमाणु के प्रदेश 103
कौन द्रव्य कितने लोकाकाश में रहता है ? 104
प्रत्येक द्रव्य का कार्य 107
धर्म और अधर्म द्रव्य के कार्य को लेकर शङ्का-समाधान
आकाश द्रव्य के कार्य को लेकर शंका-समाधान
शब्द पौद्गालिक है
आकाश द्रव्य का उपकार 108
पुद्गल द्रव्य का उपकार 109
जीवकृत उपकार 111
काल का उपकार 111
पुद्गल का लक्षण 112
पुद्गल की पर्याय 113
पुद्गल के भेद 114
स्कन्ध की उत्पत्ति के कारण 115
अणु की उत्पत्ति 115
द्रव्य का लक्षण 116
सत् का लक्षण 116
नित्यत्व का स्वरूप 118
पौद्गलिक बन्ध के हेतु 118
पौद्गलिक बंध के नियम 119

बन्ध के सामान्य विधान में अपवाद 120
प्रकारान्तर से द्रव्य का लक्षण 123
काल भी द्रव्य है 124
गुण का लक्षण 126
गुण और पर्याय में अन्तर
परिणाम का स्वरूप 126

षष्ठम अध्याय

योग का स्वरूप 127
आस्रव का स्वरूप 128
योग के भेद और उनका कार्य 128
स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद 129
साम्परायिक आस्रव के भेद 130
पच्चीस क्रियाओं का स्वरूप
परिणाम भेद से आस्रव में विशेषता 131
अधिकरण के भेद 132
जीवाधिकरण के भेद 132
अजीवाधिकरण के भेद 133
ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण 134
असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण 134
दुख आदि कारणों को लेकर-शंका-समाधान
साता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण 136
दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण 136
चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण 137
नरकायु के आस्रव के कारण 137
तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण 137
मनुष्यायु के आस्रव के कारण 138
देवायु के आस्रव के कारण 138

अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण 139
शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण 139
तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण 140
नीच गोत्र के आस्रव के कारण 141
उच्च गोत्र के आस्रव के कारण 141
अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण 142

सप्तम अध्याय

व्रत का स्वरूप 143
अहिंसा व्रत की प्रधानता 144
व्रतों को आस्रव का कारण क्यों कहा
व्रतों के भेद 144
अहिंसा व्रत की भावनाएँ 144
सत्य व्रत की भावनाएँ 144
अचौर्य व्रत की भावनाएँ 145
ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ 145
परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएँ 145
हिंसा आदि की विरोधी भावनाएँ 146
कुछ अन्य भावनाएँ 147
हिंसा का लक्षण 148
हिंसा के भेद और उनका खुलासा
अनृत (असत्य) का लक्षण 149
चोरी का लक्षण 149
अब्रह्मका का लक्षण 150
परिग्रह का लक्षण 150
व्रतों का स्वरूप 150
व्रती के भेद 151
आगारी व्रती का स्वरूप 152

पाँच अणुव्रत
सात शील
सल्लेखना का वर्णन 154
सल्लेखना और आत्मवध में अन्तर
सम्यग्दर्शन के अतिचार 155
अहिंसाणु व्रत के अतिचार 156
सत्याणु व्रत के अतिचार 156
अचौर्याणुव्रत के अतिचार 157
ब्रह्म चर्याणुव्रत के अतिचार 158
परिग्रह-परिमाणव्रत के अतिचार 158
दिग्विरति व्रत के अतिचार 159
देश व्रत के अतिचार 159
अनर्थ दण्ड विरति के अतिचार 159
सामायिक व्रत के अतिचार 160
प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार 160
उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार 161
अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार 161
सल्लेखना व्रत के अतिचार 161
दान का लक्षण 162
दान के फल में विशेषता 162

अष्टम अध्याय

बन्ध के कारणों का कथन 163
बन्ध का स्वरूप 164
बन्ध के भेद 165
प्रकृति बन्ध के आठ भेद 166
आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या 167
ज्ञानावरण के भेद 167
अभव्य जीव के दो ज्ञानावरणों की सत्ता को लेकर शंका-समाधान

दर्शनावरण के भेद 168
वेदनीय के भेद 168
मोहनीय के भेद 169
आयु कर्म के भेद 171
नाम कर्म के भेद 171
गोत्र कर्म के भेद 176
अन्तराय कर्म के भेद 176
कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन 176
कर्मों की जघन्य स्थिति का वर्णन 177
अनुभव बन्ध का वर्णन 178
अनुभव के दो प्रकार
फल देने के बाद कर्म की निर्जरा 179
निर्जरा के दो प्रकार
प्रदेश बन्ध का कथन 180
कर्मों की पुण्य प्रकृतियाँ 181
कर्मों की पाप प्रकृतियाँ 181

नवम अध्याय

संवर का लक्षण 183
संवर के कारण 183
गुप्ति का लक्षण 184
समिति के भेद 184
गुप्ति और समिति में अन्तर
दस धर्म 186
सत्य धर्म और भाषा समितियों में अन्तर
बारह अनुप्रेक्षाएँ 187
परीषहों को सहने का उद्देश्य 188
परीषहों का वर्णन 188
गुणस्थानों में परीषहों का विभाग 190

किस कर्म के उदय से कौन परीषह होती है ?	**191**
एक साथ एक जीव में कितनी परीषह हो सकती हैं ?	**192**
चारित्र के भेद और उनका स्वरूप	**193**
बाह्य तप के भेद और उनका स्वरूप	**194**
परीषह और कायक्लेश में अन्तर	
अभ्यन्तर तप के भेद	**195**
अभ्यन्तर तप के उपभेदों की संख्या	**195**
प्रायश्चित के भेद	**196**
विनय के भेद	**197**
वैयावृत्य के भेद	**198**
स्वाध्याय के भेद	**198**
व्युत्सर्ग के भेद	**199**
ध्यान का वर्णन	**199**
ध्यान के भेद	**200**
आर्तध्यान के भेद और उनके लक्षण	**201**
आर्तध्यान के स्वामी	
रौद्रध्यान के भेद और उनके स्वामी	**202**
धर्मध्यान का स्वरूप	**202**
शुक्लध्यान के स्वामी	**203**
शुक्लध्यान के भेद	**203**
शुक्लध्यान का आलम्बन	**204**
आदि के दो शुक्ल ध्यानों का विशेष कथन	**204**
वीतर्क का लक्षण	**204**
वीचार का लक्षण	**204**
पृथकत्व वितर्क वीचार	
एकत्व वितर्क	
सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति	
समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति	

सम्यग्दृष्टियों के कर्म निर्जरा की हीनाधिकता	**207**
निर्ग्रन्थ के भेद	**209**
निर्ग्रन्थों में विशेषता का विचार	**210**

दशम अध्याय

केवल ज्ञान की उत्पत्ति के कारण	**212**
मोक्ष का लक्षण और उसके कारण	**212**
कर्म के अभाव का क्रम	
कुछ भावों के अभाव का कथन	**213**
मुक्तावस्था में शेष रहने वाले क्षायिक भाव	**213**
मुक्तावस्थाकी कुछ बातों को लेकर शंका-समाधान	
मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन	**215**
ऊर्ध्वगमन में हेतु और दृष्टान्त	**215**
लोक के अन्त तक ही जाने का कारण	**216**
मुक्त जीवों में भेद व्यवहार का विचार	**216**
क्षेत्र	
काल	
गति	
लिंग	
तीर्थ	
चारित्र	
प्रत्येक बुद्ध	
बोधित	
ज्ञान	
अवगाहना	
अन्तर	
संख्या	
अल्प बहुत्व	

तत्त्वार्थ सूत्र

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

अर्थ – जो मोक्षमार्ग का प्रवर्तक है, कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करनेवाला है और समस्त तत्वों का जानता है, उसे मैं उन गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ – यहाँ तीन विशेषणों के साथ आप्त की स्तुति की है। प्रथम विशेषण से आप्त को परम हितोपदेशी बतला कर जगत के प्राणियों के प्रति उनका परम उपकार दर्शाया है। दूसरे विशेषण से आप्त को निर्दोष और वीतराग बतलाया है; क्योंकि जगत के समस्त जीवों को अपने स्वरूप से भ्रष्ट करनेवाले मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण , दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका नाश करके ही आप्त होता है। तीसरे विशेषण से अपने गुण पयार्य सहित समस्त पदार्थोंको एक साथ जानने के कारण आप्त को सर्वज्ञ बतलाया है। इस तरह परम हितोपदेशी, वीतराग और सर्वज्ञ ही आप्त हैं। उसी के उपदेश से शास्त्र की उत्पत्ति होती है, उसका यथार्थ ज्ञान होता है, तथा उसी के द्वारा सर्वज्ञता और वीतरागता की प्राप्ति होती है। अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में ऐसे आप्त को नमस्कार करना उचित ही है।

अब ग्रन्थकार मोक्ष का उपाय बतलाते हैं-

सम्यग्दशर्न ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ।।१।।

अर्थ – सम्यग्दशर्न, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिले हुए मोक्ष का मार्ग हैं।

विशेषार्थ – इस सूत्र का पहला शब्द सम्यक् का अर्थ है- प्रशंसा। यह शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिये। यानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। किन्तु ये तीनों अलग अलग मोक्ष के मार्ग नहीं हैं, बल्कि तीनों का मेल ही मोक्ष का मार्ग है। इसी से सूत्र में एकवाची 'मार्गः' शब्द रखा है।

पदार्थों के सच्चे स्वरूप के श्रद्धान को 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। पदार्थो के सच्चे स्वरूप के जानने को 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं और जिन कार्यों के करने से कर्मबन्ध होता है उन कार्यों के न करने को 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं।

शंका – सूत्र में ज्ञान को पहले रखना चाहिए, क्योंकि ज्ञानपूर्वक ही पदार्थों का श्रद्धान होता है। तथा दर्शन से ज्ञान में थोड़े अक्षर हैं। इसलिए भी अल्प अक्षर वाले ज्ञान को दर्शन से पहले करना चाहिये।

समाधान – जैसे मेघ-पटल के हटते ही सूर्य का प्रताप और प्रकाश दोनों एक साथ प्रकट होते हैं वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय आत्मा के कुमति और कुश्रुत ज्ञान मिटकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप होते हैं। अतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में काल भेद नहीं है, दोनों एक साथ होते हैं। तथा यद्यपि ज्ञान अल्प अक्षर वाला है किन्तु अल्प अक्षर वाले से जो पूज्य होता है वही प्रधान होता है। दर्शन और ज्ञान में दर्शन ही पूज्य है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। अतः पूज्य होने से सम्यग्दर्शन को पहले कहा है उसके बाद ज्ञान को रखा है। तथा सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। इसी से चारित्र को अन्त में रखा है ।।१।।

अब सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं-

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।२।।

अर्थ – जो पदार्थ जिस स्वभाव वाला है उसका उसी स्वभाव रूपसे निश्चय होना 'तत्त्वार्थ' है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

विशेषार्थ – 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दो शब्दों के मेल से 'तत्त्वार्थ' शब्द बना है । 'तत्त्व' शब्द भाव सामान्य का वाचक है । अत: जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसका उसी रूप में होना तत्व है; और जिसका निश्चय किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं । अत: 'तत्त्व' रूप अर्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं । आशय यह है कि तत्त्व का मतलब है भाव, और अर्थ का मतलब है भाववान् । अत: न केवल भाव का और न केवल भाववान् का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । किन्तु भाव विशिष्ट भाववान् का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं- सराग सम्यक्दर्शन और वीतराग सम्यक्दर्शन । प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सराग सम्यग्दर्शन के सूचक हैं । रागादिक की तीव्रता के न होने को प्रशम कहते हैं। संसार, शरीर और भोगों से भयभीत होने का नाम 'संवेग' है । सब प्राणियों को अपना मित्र समझना 'अनुकम्पा' है । आगम में जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा है उसी रूप में उन्हें मानना 'आस्तिक्य' है । सराग सम्यग्दृष्टि में ये चारों बातें पायी जाती हैं तथा आत्मा की विशुद्धि का नाम वीतराग सम्यग्दर्शन है ।।२।।

आगे बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है-

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।।३।।

अर्थ – वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है- स्वभाव से और पर के उपदेश से। जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश से उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

विशेषार्थ – दोनों ही सम्यग्दर्शनों की उत्पत्ति का अन्तरंग कारण तो

एक ही है वह है दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम। उसके होते हुए जो सम्यग्दर्शन बिना दूसरे के उपदेश के स्वयं ही प्रकट हो जाता है उसे निसर्गज कहते हैं, और परोपदेश पूर्वक जो होता है उसे अधिगमज कहते हैं । सारांश यह है कि जैसे पुरानी किवंदन्ती के अनुसार कुरुक्षेत्र में बिना ही प्रयत्न के सोना पड़ा हुआ मिल जाता है वैसे ही किसी दूसरे पुरुष के उपदेश के बिना, स्वयं ही जीवादि तत्वों को जानकर जो श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है । जैसे सोना निकालने की विधि को जानने वाले मनुष्य के प्रयत्न से खान से निकाला हुआ स्वर्ण पाषाण सोना रूप होता है वैसे ही दूसरे पुरुष के उपदेश की सहायता से जीवादि पदार्थों को जानकर जो श्रद्धान होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है ।।३।।

अब तत्वों को बतलाते हैं -

जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ।।४।।

अर्थ – जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं । जिसका लक्षण चेतना है वह जीव है । जिनमें चेतना नहीं पायी जाती ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव हैं । कर्मों के आने के द्वार को आस्त्रव कहते हैं । आत्मा और कर्म के प्रदेशों के परस्पर में मिलने को बंध कहते हैं । आस्त्रव के रुकने को संवर कहते हैं। कर्मों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं । और समस्त कर्मों का क्षय होने को मोक्ष कहते हैं ।

शंका – तत्त्व सात ही क्यों हैं ?

समाधान – यह मोक्ष शास्त्र है । इसका प्रधान विषय मोक्ष है । अत: मोक्ष को कहा । मोक्ष जीव को होता है । अत: जीव का ग्रहण किया । तथा संसार पूर्वक ही मोक्ष होता है और संसार अजीव के होने पर होता है क्योंकि जीव और अजीव के आपस में बद्ध होने का नाम ही

संसार है। अत: अजीव का ग्रहण किया। संसार के प्रधान कारण आस्त्रव और बंध हैं। अत: आस्त्रव और बंध का ग्रहण किया। तथा मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं इसलिए संवर और निर्जरा का ग्रहण किया ॥४॥

अब सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि के व्यवहार में आने वाले व्यभिचार को दूर करने के लिए सूत्रकार निक्षेपों का कथन करते हैं-

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यास: ॥५॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का नाम स्थापना द्रव्य और भाव के द्वारा निक्षेप होता है। जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है, लोक व्यवहार चलाने के लिए अपनी इच्छा से उसे उस नाम से कहना 'नाम निक्षेप' है। जैसे माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम इन्द्र रख दिया परंतु उसमें इन्द्र का कोइ गुण नहीं पाया जाता। अत: वह पुत्र नाम मात्र से इन्द्र है। वास्तव में इन्द्र नहीं है। लकडी, पत्थर, मिट्टी के चित्रों में तथा शतरंज के मोहरो में हाथी, घोड़े वगैरह की स्थापना करना 'स्थापना निक्षेप' है। स्थापना दो प्रकार की होती है "तदाकार" और "अतदाकार"। पाषाणीया धातु के बने हुए तदाकार प्रतिबिम्ब में जिनेन्द्र भगवान की या इन्द्र की स्थापना करना "तदाकार-स्थापना" है, और शतरंज के मोहरे में जो कि हाथी और घोड़े के आकार के नहीं हैं हाथी घोड़े की स्थापना करना अर्थात उनको हाथी धोड़ा मानना 'अतदाकार स्थापना' है।

शंका - नाम और स्थापना में क्या भेद है ?

समाधान - नाम और स्थापना में बहुत भेद है। नाम तो केवल लोक व्यवहार चलाने के लिए ही रखा जाता है, जैसे किसी का नाम इन्द्र या जिनेन्द्र रख देने से इन्द्र या जिनेन्द्र की तरह उसका आदर-सन्मान नही किया जाता, किन्तु धातु पाषाण के प्रतिबिम्ब में स्थापित जिनेन्द्र की

अथवा इन्द्र की पूजा साक्षात जिनेन्द्र या इन्द्र की तरह ही की जाती है।

जो पदार्थ आगामी परिणाम की योग्यता रखता हो उसे "द्रव्य निक्षेप" कहते हैं। जैसे इन्द्र की प्रतिमा बनाने के लिए जो काष्ठ लाया गया हो उसमें इन्द्र की प्रतिमा रूप परिणत होने की योग्यता है अत: उसे इन्द्र कहना 'द्रव्य निक्षेप' है। वतर्मान पर्याय से युक्त वस्तु को 'भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे, स्वर्ग के स्वामी साक्षात् इन्द्र कों इन्द्र कहना भाव निक्षेप है। ऐसे ये चार निक्षेप हैं।

विशेषार्थ - इन निक्षेपों का यह प्रयोजन है कि लोक में प्रत्येक वस्तु का चार रूप से व्यवहार होता पाया जाता है। जैसे इन्द्रका व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूप में होता देखा जाता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदिका व्यवहार भी चार रूप से हो सकता है। अत: कोई नाम को ही भाव न समझ ले, या स्थापना को ही भाव न समझ बैठे, इसलिए व्यभिचारको दूर करके यथार्थ वस्तु को समझाने के लिए ही यह निक्षेप की विधि बतलाई है। इनमे से नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीन निक्षेप तो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से हैं और चौथा भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है ॥५॥

अब तत्त्वों जानने का उपाय बतलाते हैं -

प्रमाणनयैरधिगम: ॥६॥

अर्थ - प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादिक पदार्थों का ज्ञान होता है। सम्पूर्ण वस्तु को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और वस्तु के एक देश को जानने वाले ज्ञानको नय कहते हैं।

विशेषार्थ - प्रमाण के दो प्रकार हैं- स्वार्थ और परार्थ। जिसके द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जानता है उसे स्वार्थ प्रमाण कहते हैं। इसी से स्वार्थ प्रमाण ज्ञानरूप ही होता है; क्योंकि ज्ञान के द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जान सकता है, दूसरों को नहीं बतला सकता, और जिसके द्वारा दूसरों को

ज्ञान कराया जाता है उसे परार्थ प्रमाण कहते हैं। इसी से परार्थ प्रमाण वचनरूप होता है; क्योंकि ज्ञान के द्वारा ज्ञाता स्वयं जानकर वचन के द्वारा दूसरों को ज्ञान कराता है। आगे ज्ञान के पाँच भेद बतलाये हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से श्रुतज्ञान के सिवा शेष चार ज्ञान तो स्वार्थ प्रमाण ही हैं; क्योंकि वे मात्र ज्ञानरूप ही हैं; परंतु श्रुतज्ञान ज्ञानरूप भी है और वचनरूप भी है। अतः श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। ज्ञानरूप श्रुतज्ञान स्वार्थ प्रमाण है, और वचनरूप श्रुतज्ञान परार्थ प्रमाण है। जैसे, तत्त्वार्थसूत्र के ज्ञाता को तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित विषयों का जो ज्ञान है वह ज्ञानात्मक श्रुत होने से स्वार्थप्रमाण है। जब वह ज्ञाता अपने वचनों के द्वारा दूसरों को उन विषयों का ज्ञान कराता है वह वचनात्मक श्रुत परार्थ प्रमाण है। इस श्रुतज्ञान के ही भेद नय हैं ॥६॥

अब प्रमाण और नय के द्वारा जाने गये जीव आदि तत्वों को जानने का अन्य उपाय बतलाते हैं।

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः ॥७॥

अर्थ - निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान- इन छह अनुयोगों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। जिस वस्तु को हम जानना चाहते हैं उसका स्वरूप कहना निर्देश है। स्वामित्व से मतलब उस वस्तु के मालिक से है। वस्तु के उत्पन्न होने के कारणों को साधन कहते हैं। वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। काल की मर्यादा का नाम स्थिति है। विधान से मतलब उसके भेदों से है। इस तरह इन छह बातों के द्वारा उस वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ - वस्तु को हम जानते तो प्रमाण और नय से ही हैं। किन्तु उसके जानने में उपर बतलाई गई छः बातें उपयोगी होती हैं, उनसे उस

वस्तु की पूरी जानकारी होने में सहायता मिलती है। जैसे हम यदि सम्यग्दर्शन को जानना चाहते हैं तो उसके विषय में छः अनुयोग इस प्रकार घटना चाहिए - तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह निर्देश है। सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव होता है। सम्यग्दर्शन के साधन दो हैं- अन्तरंग और बहिरंग। अंतरंग साधन अथवा कारण तो दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है और जिन धर्म का सुनना, जिन बिम्ब का दर्शन, जातिस्मरण वगैरह बहिरंग साधन हैं। अधिकरण भी दो हैं- अन्तरंग और बहिरंग। सम्यग्दर्शन का अन्तरंग अधिकरण या आधार तो आत्मा ही है; क्योंकि सम्यग्दर्शन उसी को होता है। और बहिरंग आधार त्रस नाड़ी है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव त्रस्त नाड़ी में ही रहते हैं उससे बाहर नहीं रहते। सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम एक अंतर्मुहूर्त मात्र है, और अधिक से अधिक सादि अनन्त है, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने पर कभी नहीं छूटता और मुक्त हो जाने पर भी बना रहता है। सम्यग्दर्शन के दो भेद भी हैं- निसर्गज और अधिगमज। तथा तीन भेद भी हैं औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक।

इसी तरह ज्ञान, चारित्र और जीव आदि पदार्थों में निर्देश आदि लगा लेना चाहिए ॥७॥

जीव आदि को जानने के और भी उपाय बतलाते हैं-

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

अर्थ - सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी जीव आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। सत् का अर्थ अस्तित्व या मौजूदगी है। भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं। वर्तमान निवास को क्षेत्र कहते हैं। तीनों कालों में विचरने के क्षेत्र को स्पर्शन कहते हैं। काल का मतलब सभी जानते हैं। विरह काल को अन्तर कहते हैं। अर्थात् एक दशा से दूसरी दशा को प्राप्त करके

फिर उसी पहली दशा में आ जाने पर दोनों के बीच में जितना काल रहता है वह विरह काल कहलाता है। इसी को अन्तर कहते हैं। औपशमिक आदि को भाव कहते हैं। एक दूसरे की अपेक्षा तुलना करके एक को न्यून दूसरे को अधिक बतलाना अल्पबहुत्व है। इन आठों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि का ज्ञान होता है ॥८॥

अब ज्ञान के भेद बतलाते हैं-

मति-श्रुतावधि-मनःपर्याय केवलानि ज्ञानम् ॥९॥

अर्थ - मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले किसी दूसरे पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे, मतिज्ञान के द्वारा घट को जान कर अपनी बुद्धि से यह जानना कि यह घट पानी भरने के काम का है, अथवा उस एक घट के समान या असमान जो अन्य बहुत से 'घट' हैं, उनको जान लेना श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक। कर्ण इन्द्रिय के सिवा बाकी की चार इन्द्रियों के द्वारा होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे, स्वयं घट को जानकर यह जानना कि यह घट अमुक काम में आ सकता है; और कर्ण इन्द्रिय के द्वारा होनेवाले मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे, "घट" इस शब्द को सुनकर कर्णेन्द्रिय के द्वारा जो मतिज्ञान हुआ उसने केवल शब्द मात्र को ही ग्रहण किया। उसके बाद उस घट शब्द के वाच्य घड़े को देखकर यह जानना कि यह घट है और यह पानी भरने के काम का है, यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थ को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। मनुष्य लोक में वर्तमान जीवों के मन में स्थित जो रूपी पदार्थ हैं, जिनका

उन जीवों ने सरल रूप से या जटिल रूप से विचार किया है, या विचार कर रहे हैं अथवा भविष्य में विचार करेंगे, उनको स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं और सब द्रव्यों की सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं ॥९॥

ऊपर प्रमाण और नयों के द्वारा वस्तु का ज्ञान होना बतलाया है। किन्तु कोई कोई मतावलम्बी इन्द्रिय और पदार्थ का जो सन्निकर्ष-सम्बन्ध होता है उसी को प्रमाण मानते हैं, कोई इन्द्रिय को ही प्रमाण मानते हैं।

अतः ऊपर कहे गये ज्ञानों का ही प्रमाण बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं-

तत्प्रमाणे ॥१०॥

अर्थ - ऊपर कहे मति आदि ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

विशेषार्थ - सूत्रकार का कहना है कि ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ का जो सम्बन्ध होता है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। किन्तु सूक्ष्म पदार्थ जैसे परमाणु, दूरवर्ती पदार्थ जैसे सुमेरु और अन्तरित पदार्थ जैसे राम-रावण आदि के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रिय का सम्बन्ध तो सामने वर्तमान स्थिर स्थूल पदार्थ के साथ ही हो सकता है। अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानने से इन पदार्थों का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। इसके सिवा सभी इन्द्रियाँ पदार्थ को छूकर नहीं जानती हैं। मन और चक्षु जिसको जानते हैं उससे दूर रहकर ही उसे जानते हैं। अतः ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय प्रमाण नहीं है।

आगे प्रमाण के दो भेद बतलाये हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्हीं में दूसरों के द्वारा माने गये प्रमाण के सब भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी से "प्रमाणे" यह द्विवचन का प्रयोग सूत्र में किया है। ॥ १० ॥

अब प्रमाण के उन दो भेदों को बतलाकर सूत्रकार पूर्वोक्त पाँच ज्ञानों का उनमें अन्तर्भाव करते हैं-

आद्ये परोक्षम् ।।११।।

अर्थ - पाँच ज्ञानों में से आदि के दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ – यहाँ "आद्य" शब्द का द्विवचन में प्रयोग होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का ग्रहण किया है । दोनों ज्ञान 'पर' अर्थात् इन्द्रिय, मन, उपदेश, प्रकाश आदि की सहायता से होते हैं इसलिए ये परोक्ष हैं; क्योंकि जो ज्ञान पर की अपेक्षा से होता है उसे परोक्ष कहते हैं ॥११॥

अब मति और श्रुत के सिवा बाकी के तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष बतलाते हैं-

प्रत्यक्षमन्यत् ।।१२।।

अर्थ – मति और श्रुत के सिवा शेष अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ – अक्ष नाम आत्मा का है। जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, इन्द्रिय, प्रकाश, उपदेश आदि की सहायता नहीं लेता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं- विकल प्रत्यक्ष यानी एक देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष । अवधि और मनःपर्यय विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ॥ १२ ॥

आगे परोक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में विशेष कथन करते हैं-

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।।१३।।

अर्थ – मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ये मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं; क्योंकि ये पाँचो ही मति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं ।

विशेषार्थ – इन्द्रिय और मन की सहायता से जो अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है उसे मति कहते हैं । न्याय शास्त्र में इस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है; क्योंकि लोक व्यवहार में इन्द्रिय से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है । परन्तु वास्तव में तो पराधीन होने से यह ज्ञान परोक्ष ही है। पहले जानी हुई वस्तु को कालान्तर में स्मरण करना स्मृति है । जैसे, पहले देखे हुए देवदत्त का स्मरण करना 'वह देवदत्त' यह स्मृति है । संज्ञा का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है । वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण होना और फिर पहले देखी हुई वस्तु का और वर्तमान वस्तु का जोड़ रूप ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञान है । न्यायशास्त्र में प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद बतलाये हैं, जिनमें चार मुख्य हैं- एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान और तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। किसी पुरुष को देखकर "यह वही पुरुष है जिसे पहले देखा था।" ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होना एकत्व प्रत्यभिज्ञान है । वन में गवय नाम के पशु को देखकर ऐसा ज्ञान होना कि यह गवय मेरी गौ के समान है, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है । भैंस को देखकर यह भैंस मेरी गौ से विलक्षण है ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना तो तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है । निकट की वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु के स्मरण पूर्वक ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होना कि इससे वह दूर है, या ऊँची है, या नीची है, इत्यादि ज्ञान को तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । चिन्ता का दूसरा नाम तर्क है । 'जहाँ अमुक चिन्ह होता है वहाँ उस चिन्ह वाला भी होता है ।' ऐसे ज्ञान को चिन्ता या तर्क कहते हैं । न्यायशास्त्र में व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं और साध्य के अभाव में साधन के अभाव को तथा साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव को व्याप्ति कहते हैं । जैसे, अग्नि के न होने पर धुआँ नहीं होता और धुआँ होने पर अग्नि अवश्य होती है यह व्याप्ति है और इसको जानने वाले ज्ञान को तर्क प्रमाण कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साधन कहते हैं । साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं।

इसका दूसरा नाम अनुमान है। जैसे, कहीं धुआँ उठता देखकर यह जान लेना कि वहाँ आग लगी हैं क्योंकि धुआँ उठ रहा है, यह अभिनिबोध है। ये सब ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ॥ १३ ॥

आगे बतलाते हैं कि मतिज्ञान किससे उत्पन्न होता है-

तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम् ॥१४॥

अर्थ – वह मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों की और अनिन्द्रिय यानी मन की सहायता से होता है।

विशेषार्थ – इन्द्र अर्थात् आत्मा। आत्मा के चिन्ह विशेष को इन्द्रिय कहते हैं। आशय यह है कि जानने की शक्ति तो आत्मा में स्वभाव से ही है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म का उदय रहते हुए वह बिना बाह्य सहायता के स्वयं नहीं जान सकता। अतः जिन अपने चिन्हों के द्वारा वह पदार्थों को जानता है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। आत्मा तो सूक्ष्म है, दिखाई नहीं देता। अतः जिन चिन्हों से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियों की प्रवृत्ति से ही आत्मा के अस्तित्व का पता लगता है। अथवा, इन्द्र यानी नामकर्म। उसके द्वारा जो रची जाय उसे इन्द्रिय कहते हैं।

शंका – जो इन्द्रिय नहीं उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। तब मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा? क्योंकि वह भी तो इन्द्र अर्थात् आत्मा का चिन्ह है, उनके द्वारा भी आत्मा जानता है ?

समाधान – यहाँ अनिन्द्रिय का मतलब 'इन्द्रिय नहीं' ऐसा मत लेना, किन्तु किंचित् इन्द्रिय लेना। अर्थात् मन किंचित् इन्द्रिय है, पूरी तरह से इन्द्रिय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों का तो स्थान भी निश्चित है और विषय भी निश्चित है। जैसे, चक्षु शरीर के अमुक भाग में ही पायी जाती है तथा वह रूप को ही जानती है। किन्तु मन का न तो कोई निश्चित स्थान ही है और न कोई निश्चित विषय ही है; क्योंकि जैन सिद्धान्त में ऐसा बतलाया है कि आत्मा के जिस प्रदेश में ज्ञान उत्पन्न होता है उसी स्थान के अंगुल के

असंख्यातवें भाग आत्म प्रदेश उसी समय मनरूप हो जाते हैं तथा मन की प्रवृत्ति भी सर्वत्र देखी जाती है इसलिए उसे अनिन्द्रिय कहा है। मन को अन्तःकरण भी कहते हैं; क्योंकि एक तो वह आँख वगैरह की तरह बाहर में दिखायी नहीं देता। दूसरे, मन का प्रधान काम गुण-दोष का विचार तथा स्मरण आदि है। उसमें वह इन्द्रियों की सहायता नहीं लेता। अतः उसे अन्तःकरण भी कहते हैं ॥ १४ ॥

अब मतिज्ञान के भेद कहते हैं-

अवग्रहेहावाय-धारणाः ॥१५॥

अर्थ - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये चार मतिज्ञान के भेद हैं। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन के अनन्तर ही जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह है। जैसे, चक्षु से सफेद रूप को जानना अवग्रह है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा का होना ईहा है। जैसे, यह सफेद रूप वाली वस्तु क्या है? यह तो बगुलों की पंक्ति सी प्रतीत होती है, यह ईहा है। विशेष चिन्हों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय कर लेना अवाय है। जैसे, पंखों के हिलने से तथा ऊपर नीचे होने से यह निर्णय कर लेना कि वह बगुलों की पंक्ति ही है, यह अवाय है। अवाय से जानी हुई वस्तु को कालान्तर में भी नहीं भूलना धारणा है ॥ १५ ॥

आगे इन अवग्रह आदि ज्ञानों के और भेद बतलाने के लिए उनके विषय बतलाते हैं-

बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

अर्थ – बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनके प्रतिपक्षी अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव इन बारहों के अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं। अथवा अवग्रह आदि से इन बारहों का ज्ञान होता है।

बहुत वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुज्ञान कहते हैं। बहुत तरह की वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुविधज्ञान कहते हैं। जैसे, सेना या वनको एक समूह रूप में जानना बहुज्ञान है और हाथी घोड़े आदि या आम, महुआ आदि भेदों को जानना बहुविध ज्ञान है। वस्तु के एक भागको देखकर पूरी वस्तुको जान लेना अनिःसृत ज्ञान है। जैसे, जलमें डूबे हुए हाथी की सूंडको देखकर हाथी को जान लेना। शीघ्रता से जाती हुई वस्तुको जानना क्षिप्रज्ञान है। जैसे, तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठकर बाहर की वस्तुओं को जानना। बिना कहे अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है। बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान होना या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुव ज्ञान है। अल्प का अथवा एक का ज्ञान होना अल्प ज्ञान है। एक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होना एकविध ज्ञान है। धीरे-धीरे चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना अक्षिप्र ज्ञान है। सामने विद्यमान पूरी वस्तु को जानना निसृत ज्ञान है। कहने पर जानना उक्त ज्ञान है। चंचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुव ज्ञान है। इस तरह बारह प्रकार का अवग्रह, बारह प्रकार की ईहा, बारह प्रकार का अवाय और बारह प्रकार का धारणा ज्ञान होता है। ये सब मिलकर ज्ञान के ४८ भेद होते हैं, तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा होता है। अतः ४८ को छः से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८८ भेद होते हैं ॥ १६ ॥

आगे बतलाते हैं कि ये बहु, बहुविध आदि किसके विशेषण हैं-

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ - ये बहु, बहुविध आदि पदार्थ के विशेषण हैं। अर्थात् बहु यानी बहुत से पदार्थ, बहुविध यानी बहुत तरह के पदार्थ। इस तरह बारहों भेद पदार्थ के विशेषण हैं।

शंका - इसके कहने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि बहु बहुविध

तो पदार्थ ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता, उसीके अवग्रह ईहा आदि ज्ञान होते हैं?

समाधान - आप की शंका ठीक है; किन्तु (अन्य मतावलम्बियों के मत का निराकरण करने के लिए "अर्थस्य" सूत्र कहना पड़ा है) कुछ मतावलम्बी ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियों का सम्बन्ध पदार्थ के साथ नहीं होता, किन्तु पदार्थ में रहनेवाले रूप, रस आदि गुणों के साथ ही होता है। अतः इन्द्रियाँ गुणों को ही ग्रहण करती हैं, पदार्थ को नहीं। किन्तु ऐसा मानना ठीक नही है; क्योंकि वे लोग गुणों को अमूर्तिक मानते हैं और इन्द्रियों के साथ अमूर्तिक का सन्निकर्ष नहीं हो सकता।

शंका -तो फिर लोक में ऐसा क्यों कहा जाता है- मैंने रूप देखा, मैंने गंध सूँघी?

समाधान - इसका कारण यह है कि इन्द्रियों के साथ तो पदार्थ का ही सम्बन्ध होता है किन्तु चूँकि रूप आदि गुण पदार्थ में ही रहते हैं, अतः ऐसा कह दिया जाता है। वास्तव में तो इन्द्रियाँ पदार्थ को ही जानती हैं ॥१७॥

आगे बतलाते हैं कि सभी पदार्थों के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं या उसमें कुछ अन्तर है-

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

अर्थ- व्यंजन अर्थात् अस्पष्ट शब्द वगैरह का केवल अवग्रह ही होता है, ईहा आदि नहीं होते।

विशेषार्थ - स्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं और अस्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को व्यंजनावग्रह कहते हैं। जैसे, श्रोत्र इन्द्रिय में एक हल्की सी आवाज का मामूली सा भान होकर रह गया। उसके बाद फिर कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था? ऐसी अवस्था में केवल व्यंजनावग्रह ही होकर रह जाता है। किन्तु यदि धीरे धीरे वह आवाज स्पष्ट हो जाती है तो व्यंजनावग्रह के बाद अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान

भी होते हैं । अतः अस्पष्ट पदार्थ का केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है और स्पष्ट पदार्थ के चारों ज्ञान होते हैं ॥१९॥

आगे बतलाते हैं कि जैसे अर्थावग्रह, ईहा वगैरह ज्ञान सभी इन्द्रियों से होते हैं वैसे व्यंजनावग्रह सभी इन्द्रियों से नहीं होता।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।। १९ ।।

अर्थ- चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता; क्योंकि चक्षु और मन पदार्थ को दूर से ही जानते हैं, उससे भिड़कर नहीं जानते । जैसे, चक्षु आँख में लगे अंजन को नहीं देख सकती, किन्तु दूरवर्ती पदार्थ को देख सकती है । इसी तरह मन भी जिन पदार्थों का विचार करता है वे उससे दूर ही होते हैं । इसी से जैन सिद्धान्त में चक्षु और मन को अप्राप्यकारी कहा है । शेष चारों इन्द्रियाँ अपने विषय को उससे भिड़कर ही जानती हैं । अतः व्यंजनावग्रह चार ही इन्द्रियों से होता है। इस तरह बहु आदि बारह विषयों की अपेक्षा व्यंजनावग्रह के ४८ भेद होते हैं। तथा पहले गिनाये हुए २८८ भेदों में इन ४८ भेदों को मिला देने से मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं ॥१९॥

इस तरह मतिज्ञान का स्वरूप कहा। आगे श्रुतज्ञान का स्वरूप कहते हैं-

श्रुतं मतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेदं ।।२०।।

अर्थ- श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है । उसके दो भेद हैं । उनमें से एक भेद के अनेक भेद हैं और दूसरे भेद के बारह भेद हैं ।

विशेषार्थ - पहले मतिज्ञान होता है । उसके बाद श्रुतज्ञान होता है । बिना मतिज्ञान हुए श्रुतज्ञान नहीं होता । यह बात दूसरी है कि श्रुतज्ञान होने के बाद फिर श्रुतज्ञान हो, किन्तु पहला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। उस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट । अंगबाह्य के तो अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं- आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृ धर्म कथा, उपसकाध्ययन, अन्तःकृद्दश,

अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद । भगवान तीर्थंकर ने केवलज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानकर दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश दिया । उनके साक्षात् शिष्य गणधर ने उस उपदेश को अपनी स्मृति में रखकर बारह अंगो में संकलित कर दिया । यह अंगप्रविष्ठ श्रुतज्ञान कहा जाता है । किन्तु ये अंग ग्रंथ महान और गंभीर होते हैं । अतः आचार्य ने अल्पबुद्धि शिष्यों पर दया करके उनके आधार पर जो ग्रंथ रचे, वे अंगबाह्य कहलाते हैं । ये सब अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं । श्रुतज्ञान में उसी की मुख्यता है ॥२०॥

परोक्ष प्रमाण का कथन समाप्त हुआ । अब प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन करते हुए सबसे प्रथम अवधिज्ञान का कथन करते हैं । अवधिज्ञान के दो भेद हैं- भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्त ।

उनमें से प्रथम भवप्रत्यय अवधिज्ञान के स्वामी बतलाते हैं-

भवप्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम् ।।२१।।

अर्थ- भव प्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियों के होता है ।

विशेषार्थ - अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है । और क्षयोपशम व्रत, नियम वगैरह के आचरण से होता है । किन्तु देवों और नारकियों में व्रत, नियम वगैरह नहीं होते । अतः उनमें देव और नारकियों का भव पाना ही क्षयोपशम के होने में कारण होता है । इसीसे उनमें होनेवाला अवधिज्ञान भव प्रत्यय- जिसके होने में भव ही कारण है, कहा जाता है। अर्थात् जो देव और नारकियों में जन्म लेता है उसके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो ही जाता है । अतः वहाँ क्षयोपशम के होने में भव ही मुख्य कारण है । इतना विशेष है कि सम्यग्दृष्टियों के अवधि ज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियों के कुअवधि ज्ञान होता है ॥ २१ ॥

आगे क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान किसके होता है, यह बतलाते हैं-

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।।२२।।

अर्थ- क्षयोपशम निमित्त नामक अवधिज्ञान छः प्रकार का होता है और वह मनुष्य और तिर्यन्चों के होता है ।

विशेषार्थ -अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम जिसमें निमित्त हैं उसे क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान कहते है । यद्यपि सभी अवधिज्ञान क्षयोपशम के निमित्त से होते हैं फिर भी इस अवधिज्ञान का नाम क्षयोपशम निमित्त इसलिए रखा गया कि इसके होने में क्षयोपशम ही प्रधान कारण है, भव नहीं । इसीसे इसे गुणप्रत्यय भी कहते हैं । इसके छः भेद है- अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित । जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ साथ जाता है उसे अनुगामी कहते हैं । इसके तीन भेद हैं क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और उभयानुगामी । जिस जीव के जिस क्षेत्र में अवधिज्ञान प्रकट हुआ वह जीव यदि दूसरे क्षेत्र में जाय तो उसके साथ जाय और छूटे नहीं, उसे क्षेत्रानुगामी कहते हैं । जो अवधिज्ञान परलोक में भी अपने स्वामी जीव के साथ जाता है वह भवानुगामी है । जो अवधि अन्य क्षेत्र में भी साथ जाता है और अन्य भव में भी साथ जाता है वह उभयानुगामी है । जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ नहीं जाता वह अननुगामी है । इसके भी तीन भेद हैं जो पूर्वोक्त तीन भेदों से उल्टे हैं । विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होने से जो अवधिज्ञान बढ़ता ही जाता है उसे वर्धमान कहते हैं । संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने से जो अवधिज्ञान घटता ही जाता है उसे हीयमान कहते हैं । जो अवधिज्ञान जिस मर्यादा को लेकर उत्पन्न हुआ हो उसी मर्यादा में रहे, न घटे और न बढ़े उसे अवस्थित कहते हैं और जो घटे-बढ़े उसे अनवस्थित कहते हैं ।।२२ ।।

अब मनःपर्यय ज्ञान का कथन करते हैं-

ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः ।।२३।।

अर्थ- मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं- ऋजुमति और विपुलमति । दूसरे के मन में सरल रूप मे स्थित रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है उसे ऋजुमित मनःपर्यय कहते हैं और दूसरे के मन मे सरल अथवा जटिल रूप में स्थित रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, उसे विपुलमति मनःपर्यय कहते हैं ।

विशेषार्थ - देव, मनुष्य और तिर्यंच, सभी के मन मे स्थित विचार को मनःपर्यय ज्ञान जानता है, किन्तु वह विचार रूपी पदार्थ अथवा संसारी जीव के विषय में होना चाहिये । अमूर्तिक द्रव्यों और मुक्तात्माओं के विषय में जो चिन्तन किया गया होगा, उसे मनःपर्यय नही जान सकता। तथा उन्हीं जीवों के मन की बात जान सकता है जो मनुष्य लोक की सीमा के अन्दर हों । इतना विशेष है कि मनुष्यलोक तो गोलाकार है किन्तु मनःपर्यय ज्ञान का क्षेत्र गोलाकार न होकर पैंतालीस लाख योजन लम्बा चौडा चौकोर है । उसके दो भेदों में से ऋजुमति तो केवल उसी वस्तु को जान सकता है जिसके बारे मे स्पष्ट विचार किया गया हो अथवा मन-वचन और काय की चेष्टा के द्वारा जिसे स्पष्ट कर दिया गया हो । किन्तु विपुलमति मनःपर्यय चिन्तित, अचिन्तित और अर्ध-चिन्तित को भी जान लेता है ॥ २३ ॥

अब मनःपर्यय के दोनो भेदों में विशेषता बतलाते हैं-

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।।२४।।

अर्थ- ऋजुमति और विपुलमति में विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा से विशेषता है । मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा में उज्जवलता होती है वह विशुद्धि है, और संयम परिणाम की

वृद्धि होने से गिरावट का न होना अप्रतिपात है। ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है । तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है किन्तु विपुलमति वाले का चारित्र वर्धमान ही होता है, अत: केवलज्ञान उत्पन होने तक बराबर बना रहता है ॥ २४ ॥

आगे अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान मे विशेषता बतलाते है-

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मन:पर्यययो: ॥२५॥

अर्थ– अवधिज्ञान और मन: पर्यय ज्ञान मे विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा से अन्तर है।

विशेषार्थ – इसका खुलासा इस प्रकार है-अवधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके अनन्तवें भाग सूक्ष्म रूपी द्रव्य को मन:पर्यय ज्ञान जानता है। अत: अवधिज्ञान से मन:पर्यय ज्ञान विशुद्ध है। अवधि ज्ञान की उत्पति का क्षेत्र समस्त त्रसनाड़ी है, किन्तु मन:पर्याय ज्ञान मनुष्य लोक मे ही उत्पन्न होता है। अवधि ज्ञान के विषय का क्षेत्र समस्त लोक है किन्तु मन:पर्यय ज्ञान के विषय क्षेत्र पैतालिस लाख योजन का घन रूप ही है। इतने क्षेत्र में स्थित अपने योग्य विषय को ही ये ज्ञान जानते हैं। तथा अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के होता है किन्तु मन:पर्यय ज्ञान कर्मभूमि के गर्भज मनुष्यों के ही होता है उनमें भी संयमियों के ही होता है। संयमियों में भी वर्धमान चारित्रवालों के ही होता है। हीयमान चारित्रवालों के नही होता। वर्धमान चारित्रवालों में भी सात प्रकार की ऋद्धियों में से एक दो ऋद्धियों के धारी मुनियों के ही होता है। ऋद्धिधारियों में भी किसी के ही होता है, सभी के नहीं होता। विषय की अपेक्षा भेद आगे सूत्रकार स्वयं कहेंगे। इस तरह अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में विशुद्धि वगैरह की अपेक्षा भेद जानना चाहिए ॥२५॥

अब क्रमानुसार तो केवलज्ञान का लक्षण कहना चाहिए, किन्तु केवलज्ञान का स्वरूप आगे दसवें अध्याय में कहेंगे।

अत: ज्ञानों का विषय बतलाते हुए प्रथम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय बतलाते हैं-

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अर्थ– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय का नियम द्रव्यों की कुछ पर्यायों में है। अर्थात ये दोनो ज्ञान द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानते हैं, सब पर्यायों को नहीं जानते हैं।

विशेषार्थ – इस सूत्र में 'विषय' शब्द नहीं है अत: 'विशुद्धि क्षेत्र' आदि सूत्र से विषय शब्द ले लेना चाहिए। तथा 'द्रव्येषु' शब्द बहुवचन का रूप है इसलिए जीव, पुदगल, धर्म, अर्धम, आकाश और काल सभी द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये। इन द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं। उनमें से कुछ पर्यायों की ही मति श्रुतज्ञान जानते हैं।

शंका – धर्म, अर्धम आदि द्रव्य तो अमूर्तिक हैं। वे मतिज्ञान के विषय नहीं हो सकते अत: सब द्रव्यों को मतिज्ञान जानता है ऐसा कहना ठीक नहीं है!

समाधान – यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि मन की सहायता से होने वाला मतिज्ञान अमूर्तिक द्रव्यों में भी प्रवृत्ति कर सकता है,और मनपूर्वक अवग्रह आदि ज्ञान होने पर पीछे श्रुतज्ञान भी अपने योग्य पर्यायों को जान लेता है। अत: कोई दोष नहीं है ॥ २६ ॥

अब अवधिज्ञान का विषय बतलाते हैं-

रूपिष्ववधे: ॥२७॥

अर्थ – अवधिज्ञान के विषय का नियम रूपी पदार्थों में है। यहाँ पूर्व सूत्र से "असर्वपर्यायेषु" पद ले लेना चाहिये। तथा 'रूपी' शब्द से पुद्‌गल द्रव्य लेना चाहिये, क्योंकि एक पुद्‌गल द्रव्य ही वास्तव में रूपी है। अत: अवधिज्ञान पुद्‌गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को जानता है। इतना विशेष है

कि पुद्गल द्रव्य से सम्बद्ध जीव द्रव्य की भी कुछ पर्यायों को जानता है। क्योंकि संसारी जीव कर्मों से बँधा होने से मूर्तिक जैसा ही हो रहा है। किन्तु मुक्त जीव को तथा अन्य अमूर्तिक द्रव्यों को अवधिज्ञान नहीं जानता। वह तो अपने योग्य सूक्ष्म अथवा स्थूल पुद्गल द्रव्य की त्रिकालवर्ती कुछ पर्यायों को ही जानता है ॥ २७ ॥

आगे मनःपर्यय ज्ञान का विषय बतलाते हैं-

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

अर्थ- सर्वावधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके अनन्तवें भाग को मनःपर्यय ज्ञान जानता है। सारांश यह कि अवधिज्ञान से मनःपर्यय ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य को जानने की शक्ति रखता है।

शंका - सर्वावधि ज्ञान का विषय तो परमाणु बतलाया है। और उसके अनन्तवें भाग को मनःपर्यय जानता है। ऐसा कहा है। सो परमाणु के अनन्त भाग कैसे हो सकते हैं ?

समाधान - एक परमाणु में स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति के अंश) पाये जाते हैं। अतः उनकी अपेक्षा से परमाणु का भी अनन्तवाँ भाग होना संभव है ॥२८॥

अब केवल ज्ञान का विषय बतलाते हैं-

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अर्थ- केवल ज्ञान के विषय का नियम सब द्रव्यों की सब पर्यायों में है। आशय यह है कि एक-एक द्रव्य की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। सो सब द्रव्यों को और सब द्रव्यों की त्रिकालवर्ती अनन्तनानन्त पर्यायों को एक साथ एक समय में केवल ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है ॥ २९ ॥ इस प्रकार ज्ञानों का विषय कहा।

अब यह बतलाते हैं कि एक आत्मा में एक साथ कितने ज्ञान रह सकते हैं-

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

अर्थ -एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक विभाग कर लेना चाहिये। अर्थात एक हो तो केवल ज्ञान होता है, दो हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान होते हैं। तीन हों तो मति, श्रुत और अवधिज्ञान होते हैं या मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान होते हैं। चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान होते हैं। इससे अधिक नहीं होते, क्योंकि केवल ज्ञान क्षायिक है- समस्त ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से होता है। इसीसे यह अकेला होता है, उसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकते॥३०॥

आगे बतलाते है कि आदि के तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं-

मति-श्रुतावधयो विपर्यश्च ॥३१॥

अर्थ- विपर्यय का अर्थ विपरीत यानी उल्टा होता है। यहाँ सम्यग्ज्ञान का अधिकार है। अतः विपर्यय से सम्यग्ज्ञान का उलटा मिथ्याज्ञान लेना चाहिये। तथा 'च' शब्द समुच्चयवाची है। अतः मति, श्रुत और अवधि ज्ञान सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं ऐसा सूत्र का अर्थ जानना चाहिये।

शंका - ये तीनों ज्ञान मिथ्या क्यों होते हैं?

समाधान - ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि के भी होते हैं। अतः जैसे कडुवी तुम्बी में रखा हुआ दूध कडुवा हो जाता है, वैसे ही जिस आत्मा के मिथ्यादर्शन का उदय है उस आत्मा के ज्ञान मिथ्या होते हैं ॥३१॥

इस पर शंकाकार का कहना है कि जैसे सम्यग्दृष्टि मतिज्ञान के द्वारा रूप, रस वगैरह को जानता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुमति ज्ञान के द्वारा जानता है। जैसे सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर दूसरों को

उपदेश देता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुश्रुत ज्ञानके द्वारा जानकर दूसरों को उपदेश देता है । तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान के द्वारा पदार्थों का निश्चय करता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुअवधि (विभंग ज्ञान) के द्वारा पदार्थों का निश्चय करता है । इस तरह जब मिथ्यादृष्टि के रूप आदि विषयों को ग्रहण करने में कोई विपरीतता नहीं देखी जाती तब उसके ज्ञानों को क्यों मिथ्या कहा जाता है ?

इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं-

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।।३२।।

अर्थ- सत् अर्थात विद्यमान और असत् अर्थात् अविद्यमान । अथवा सत् यानी अच्छा और असत् यानी बुरा । मिथ्यादृष्टि सत् और असत् के भेद को नहीं जानता और उन्मत्त पुरुष की तरह अपनी रुचि के अनुसार वस्तु को ग्रहण करता है । जैसे, मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ मनुष्य कभी माता को पत्नी कहता है, कभी पत्नी को माता कहता है । कभी-कभी पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कह बैठता है । फिर भी वह ठीक समझ कर ऐसा नहीं कहता । इसी तरह मिथ्यादृष्टि भी घट-पट आदि पदार्थों को घट-पट आदि ही जानता है, किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञान उसे नहीं है । इसीसे उसका ज्ञान मिथ्या माना जाता है ॥ ३२ ॥

इस तरह प्रमाण का कथन करके अब नय के भेद बतलाते हैं।

नैगम-संग्रहव्यवहार-र्जुसूत्र-शब्द-
समभिरुढैवंभूता नयाः ।।३३।।

अर्थ- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं ।

विशेषार्थ - इन सात नयों का स्वरूप इस प्रकार है- एक द्रव्य

अपनी भूत, भविष्यत् और वर्तमान पर्यायों से जुदा नहीं है, बल्कि त्रिकालवर्ती पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है । अतः जो भूत और भविष्यत् पर्यायों में वर्तमान का संकल्प करता है या वर्तमान में जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई उसे पूर्ण मानता है उस ज्ञान को तथा वचन को नैगनमय कहते हैं । जैसे एक मनुष्य कुल्हाड़ा लेकर वन की ओर जाता है । उसे देखकर कोई पूछता है कि आप किस लिए वन जा रहे हैं ? तो वह उत्तर देता है- मैं इन्द्र लेने के लिए जा रहा हूँ । किन्तु वास्तव में वह लकड़ी लेने जा रहा है परन्तु उसका संकल्प उस लकड़ी से इन्द्र की प्रतिमा बनाने का है । अतः वह अपने संकल्प में ही इन्द्र का व्यवहार करता है । इसी तरह एक आदमी लकड़ी पानी वैगरह रख रहा है । उससे कोई पूछता है- आप क्या कर रहे है ? तो वह उत्तर देता है- मैं भात पका रहा हूँ । किन्तु उस समय वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है । पर चूंकि उसका संकल्प भात पकाने का है अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई है उसे वह निष्पन्न मानकर करता है- यह नैगमनय है ।

अपनी-अपनी जाति के अनुसार वस्तुओं का या उनकी पर्यायों का एक रूपसे संग्रह करनेवाले ज्ञान को और वचन को संग्रह नय कहते हैं । जैसे 'द्रव्य' कहने से सब द्रव्यों का ग्रहण होता है, जीव कहने से सब जीवों का ग्रहण होता है, पुद्गल कहने से सब पुदगलों का ग्रहण होता है ॥२॥

संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय है । जैसे 'द्रव्य' कहने से काम नहीं चल सकता। अतः व्यवहार नय की आवश्यकता होती है । व्यवहार से द्रव्य के दो भेद हैं- जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य । जीव और अजीव कहने से भी काम नहीं चलता । अतः जीव के दो भेद हैं- संसारी और मुक्त । संसारी के भी देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि भेद हैं । अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि पाँच भेद हैं । पुद्गल के दो भेद हैं- अणु और स्कन्ध । इस प्रकार व्यवहार नय तब तक भेद करता जाता है जब तक भेद हो सकते हैं ॥ ३ ॥

भूत और भावि पर्यायों को छोड़कर जो वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है उस ज्ञान और वचन को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। वस्तु हर समय परिणमन करती रहती है। इसलिए वास्तव में तो एक पर्याय एक समय तक ही रहती है। उस एक समयवर्ती पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं। वह अर्थपर्याय ऋजुसूत्र नय का विषय है। किन्तु व्यवहार में एक स्थूल पर्याय जब तक रहती है तब तक लोग उसे वर्तमान पर्याय कहते हैं। जैसे मनुष्य पर्याय अपनी आयु पर्यन्त रहती है। ऐसी स्थूल पर्याय को ग्रहण करनेवाला ज्ञान और वचन स्थूल ऋजुसूत्र नय कहा जाता है॥ ४ ॥

लिंग, संख्या, साधन आदिके व्यभिचार को दूर करनेवाले ज्ञान और वचनको शब्दनय कहते हैं। भिन्न भिन्न लिंगवाले शब्दों का एक ही वाच्य मानना लिंग व्यभिचार है- जैसे-तारका और स्वातिका, अवगम और विद्याका, वीणा और वाद्यका एक ही वाच्य मानना। विभिन्न वचनों से प्रयुक्त होने वाले शब्दों को एक ही वाच्य मानना वचन व्यभिचार है। जैसे, आपः और जलका तथा दाराः और स्त्री का एक ही वाच्य मानना। इसी तरह मध्यम पुरुष का कथन उत्तम पुरुष की क्रिया के द्वारा करना पुरुष व्यभिचार है। 'होने वाला काम हो गया।' ऐसा कहना काल व्यभिचार है क्योंकि 'हो गया' तो भूतकाल को कहता है और 'होनेवाला' आगामी काल को कहता है। इस तरह का व्यभिचार शब्द नयकी दृष्टि में उचित नहीं है। जैसा शब्द कहता है वैसा ही अर्थ में भेद मानना इस नयका विषय है। अर्थात यह नय शब्द में लिंग भेद, वचन भेद, कारक भेद, पुरुष भेद और काल भेद वगैरह के होने से उसके अर्थ में भेद का होना मानना है ॥५॥

लिंग आदि का भेद न होने पर भी शब्द भेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरूढ़ नय है। जैसे इन्द्र, शुक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के वाचक हैं और एक ही लिंग के हैं। किन्तु ये तीनों शब्द उस इन्द्र के भिन्न-भिन्न धर्मों को कहते हैं ऐसा इस नय का मंतव्य है। वह

आनन्द करता है इसलिए इन्द्र कहा जाता है, शक्तिशाली होने से शक्र और नगरों को उजाड़ने वाला होने से पुरन्दर कहा जाता है। इस तरह जो नय शब्द भेद से अर्थ भेद मानता है वह समभिरूढ नय है ॥६॥

जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ हो, उस क्रिया रूप परिणमें पदार्थ को ही ग्रहण करने वाला वचन और ज्ञान एवंभूत नय है। जैसे इन्द्र शब्द का अर्थ आनन्द करना है। अतः स्वर्ग का स्वामी जिस समय आनन्दोपभोग करता हो उसी काल में उसे इन्द्र कहना, जब पूजन करता हो तो इन्द्र नहीं कहना, एवंभूतनय है ॥७॥

इस तरह यह सात नयों का स्वरूप है। इनका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्म होता जाता है।

संक्षेप में नय के दो भेद हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो द्रव्य की मुख्यता से वस्तु को विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये द्रव्यार्थिक नय हैं और शेष चार पर्यायार्थिक नय हैं। विस्तार से तो नय के बहुत भेद हैं- क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। और एक एक धर्म को एक-एक नय विषय करता है। किन्तु यदि कोई एक नय को ही पकड़कर बैठ जाये और उसी को सत्य समझ ले तो वह दुर्नय कहलायेगा। आवश्यकतानुसार एक को मुख्य और शेष को गौण करते हुए सब नयों की सापेक्षता से ही वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है ॥३३॥

इति तत्वार्थधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः॥

जिस व्यक्ति ने शुद्ध चेतना की स्थिति का, शुद्ध उपयोग की स्थिति का दृढ़ अभ्यास कर लिया वह निश्चित ही उस स्थिति में पहुँच जायेगा जिस स्थिति में पहुँचने पर यह जाना जा सके - मोक्ष है या नहीं, परमात्मा है या नहीं, परमात्मा की स्थिति में सुख है या नहीं - ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाएँगे, समाहित हो जाएँगे।

द्वितीय अध्याय

अब सम्यग्दर्शन के विषयरूप से कहे गये सात तत्त्वों में से जीव तत्त्व का वर्णन करते हैं-

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

अर्थ - औपशमिक, क्षायिक, मिश्र औदयिक व परिणामिक ये जीव के पाँच भाव हैं। जैसे मैले पानी में निर्मली मिला देने से मैल नीचे बैठ जाता है और जल स्वच्छ हो जाता है। वैसे ही कारण के मिलने पर प्रतिपक्षी कर्म की शक्ति के दब जाने से आत्मा में निर्मलता का होना औपशमिक भाव है। ऊपर वाले दृष्टान्त में उस स्वच्छ जल को, जिसके नीचे मैल बैठ गया है, किसी साफ वर्तन में निकाल लेने पर उसके नीचे का मैल दूर हो जाता है और केवल निर्मल जल रहा जाता है। वैसे ही प्रतिपक्षी कर्म का बिलकुल अभाव होने से आत्मा में जो निर्मलता होती है वह क्षायिक भाव है। जैसे, उसी पानी को दूसरे बर्तन में निकालते समय कुछ मैल यदि साथ में चला आये और आकर जल के नीचे बैठ जाय तो उस समय जल की जैसी स्थिति होती है वैसे ही प्रतिपक्षी कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय और आगे उदय में आनेवाले निषेकों का सत्ता में उपशम होने से तथा देशघाती स्पर्द्धको का उदय होते हुए जो भाव होता है उसे क्षयोपशमिक भाव कहते हैं। उसीका नाम मिश्र भाव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्मका फल देना उदय है और उदय से जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं। जो भाव कर्मकी अपेक्षाके बिना स्वभाव से ही होता है वह पारिणामिक भाव है। इस तरह ये जीवके पाँच भाव होते हैं ॥ १ ॥

अब इन भावों के भेद कहते हैं-

द्वि-नवा-ष्टादशै-कविंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

अर्थ - औपशमिक भाव के दो भेद हैं। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं। मिश्र भाव के अट्ठारह भेद हैं। औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

अब औपशमिक भाव के दो भेद कहते हैं-

सम्यक्त्व-चारित्रे ॥३॥

अर्थ - औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। तथा समस्त मोहनीय कर्मके उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।

विशेषार्थ - उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं- प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे छूटने पर जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं और उपशम श्रेणी चढ़ते समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। प्रथमोशम सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में पाँच लब्धियाँ होती हैं- क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करणलब्धि। इनमें से प्रारम्भ की चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों के हो जाती हैं किन्तु करण लब्धि भव्य के ही होती है तथा जब सम्यक्त्व होना होता है तभी होती है। जब अशुभ कर्म प्रति समय अनन्त गुनी कम-कम शक्ति को लिये हुए उदय में आते हैं अर्थात् पहले समय में जितना फल दिया, दूसरे समय में उससे अनन्त गुना कम, तीसरे समय में उससे अनन्त गुना कम, इस तरह

प्रति समय अनन्त गुना घटता हुआ उदय जिस काल में होता है तब क्षयोपशम लब्धि होती है। क्षयोपशम लब्धि के प्रभाव से धर्मानुराग रूप शुभ परिणामों का होना विशुद्धि लब्धि है । आचार्य वगैरह के द्वारा उपदेश का लाभ होना देशना लब्धि है। किन्तु जहाँ उपदेश देनेवाला न हो, जैसे चौथे आदि नरकों में वहाँ पूर्व भव में सुने हुए उपदेश की धारणा के बल पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इन तीनों लब्धि वाला जीव प्रति समय अधिक अधिक विशुद्ध होता हुआ आयु कर्मके सिवा शेष कर्मों की स्थिति जब अन्तः कोटा कोटि सागर प्रमाण बाँधता है और विशुद्ध परिणामों के कारण वह बंधी हुई स्थिति संख्यातहजार सागर कम हो जाती है उसे प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। पाँचवीं कारण लब्धि में अधःकरण, अपूर्वकर्ण और अनिवृत्तिकरण ये तीन तरह के परिणाम कषायों की मन्दता को लिये हुए क्रमवार होते हैं। इनमें से अनिवृत्ति करण के अंतिम समय में पूर्वोक्त सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है तथा समस्त मोहनीय का उपशम होने से ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक चारित्र होता है ॥ ३ ॥

अब क्षायिक भाव के नौ भेद कहते हैं-

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ॥४॥

अर्थ – केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा "च" शब्द से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नौ क्षायिक भाव हैं।

विशेषार्थ – ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन होते हैं। दानान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से दिव्यध्वनि वगैरह के द्वरा अनन्त प्राणियों का उपकार करने वाला क्षायिक अभय दान होता है । लाभान्तराय का अत्यन्त क्षय होने से, भोजन न करने वाले केवली भगवान के शरीर को बल देने वाले जो

परम शुभ सूक्ष्म नोकर्म पुद्गल प्रति समय केवली के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, जिनसे केवली का औदारिक शरीर बिना भोजन के कुछ कम एक पूर्व कोटी वर्ष तक बना रहता है, वह क्षायिक लाभ है। भोगान्तराय का अत्यन्त क्षय होने से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा, मन्द सुगन्ध पवन का बहना आदि, क्षायिक भोग हैं। उपभोगान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल, आदि का होना, क्षायिक उपभोग है। वीर्यान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से क्षायिक वीर्य होता है। मोहनीय कर्म की ऊपर कही सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। समस्त मोहनीय कर्म के अभाव से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है; और समस्त मोहनीय कर्म के अभाव से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि अरहन्त अवस्था में ये क्षायिक दान वगैरह शरीर नाम कर्म और तीर्थंकर नाम कर्म के रहते हुए होते हैं। इसी से सिद्धों में ये भाव इस रूप में नहीं होते, क्योंकि सिद्धों में किसी भी कर्म का सद्भाव नहीं है। फिर भी जब सिद्धों के सब कर्मों का क्षय हो गया है तो कर्मों के क्षय से होनेवाले क्षायिक दान आदि भाव होने चाहिए ही । इसलिए अनन्तवीर्य और बाधा रहित अनन्त सुख के रूप में ही ये भाव सिद्धों में पाये जाते हैं ॥ ४॥

अब क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद बतलाते हैं-

ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्धयश्चतुस्त्रि-त्रि-पंचभेदाः
सम्यक्त्वचारित्र-संयमासंयमाश्च ॥५॥

अर्थ – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षु इन्द्रिय के द्वारा पदार्थों का सामान्य ग्रहण रूप चक्षु दर्शन, शेष इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का सामान्य ग्रहणरूप अचक्षु दर्शन, और अवधिज्ञान से पहले होनेवाला सामान्य ग्रहण रूप अवधि दर्शन ये तीन दर्शन, अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाली

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सराग चारित्र और संयमासंयम अर्थात् देश व्रत, ये अट्ठारह भाव क्षायोपशमिक हैं, क्योंकि ये भाव अपने प्रतिपक्षी कर्म के क्षायोपशम से होते हैं ॥ ५ ॥

अब औदायिक भाव के इक्कीस भेद कहते हैं-

गति-कषाय-लिङ्ग मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-
सिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः ॥६॥

अर्थ – चार गति, चार कषाय, तीन लिंग अर्थात् वेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व और छः लेश्याएँ ये औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।

विशेषार्थ – चार गतियाँ-नरक गति, तिर्यन्च गति, मनुष्य गति और देव गति, ये गतिनाम कर्म के उदय से होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएं चारित्र मोहनीय के भेद कषायवेदनीय के उदय से होती हैं। लिंग के दो भेद हैं- द्रव्यलिंग और भावलिंग। शरीर में होनेवाले स्त्री और पुरुष के चिन्ह आदि को द्रव्य लिंग कहते हैं। द्रव्य लिंग नाम कर्म के उदय से होता है। अतः उसका यहाँ अधिकार नहीं है; क्योंकि यहाँ आत्मा के भावों का कथन है। अतः स्त्री-पुरुष और दोनों से रमण करने की अभिलाषा रूप जो भाव वेद हैं उसी का यहाँ अधिकार है। सो चारित्र मोहनीय का भेद नोकषाय है और नो-कषाय भेद स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद कर्म के उदय से स्त्री लिंग, पुरुष लिंग और नपुसंक लिंग होते हैं। दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ का श्रद्धान न करने रूप मिथ्यादर्शन भाव होता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय से न जाननेरूप अज्ञान भाव होता है। चारित्र मोह के उदय से प्राणियों की हिंसा और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त न होने रूप असंयत भाव होता है। कर्म मात्र का उदय होने से सिद्ध

पर्याय की प्राप्ति न होने रूप असिद्धत्व भाव होता है।

लेश्या दो प्रकार की होती हैं- द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। जीव के भावों का अधिकार होने से यहां द्रव्य लेश्या का अधिकार नहीं है। कषायों के उदय से रंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं। उसके छः भेद हैं- कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल। सो आत्मा के भावों में अशुद्धता की वेशी-कमी को लेकर कृष्ण आदि शब्दों का उपचार किया है।

शंका – आगम में उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोग केवली नाम के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में लेश्या कही है; किन्तु इन गुणस्थानों में कषाय का उदय नहीं है। तब वहां लेश्या औदयिक कैसे है? अथवा वहाँ लेश्या ही कैसे है ? क्योंकि कषाय से रंजित योग की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है।

समाधान – इन गुणस्थानों में कषाय का उदय न होने पर भी पूर्वभाव प्रज्ञापन-नय की अपेक्षा से लेश्या कही है। अर्थात् पहले यही योग कषाय से रंजित था तब लेश्या कही थी अब इन गुणस्थानों में कषाय का उदय तो रहा नहीं, परन्तु योग वही है जो पहले कषाय के रंग में रंगा था। अतः उपचार से लेश्या कही है। अयोग केवली नाम के चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाने से लेश्या नहीं बतलायी है।

शंका – औदयिक भाव तो और भी अनेक हैं। जैसे अज्ञान औदयिक है वैसे ही अदर्शन भी औदयिक है। निद्रानिद्रा वगैरह भी औदयिक हैं। वेदनीय के उदय से होनेवाला सुख-दुःख भी औदयिक है। हास्य आदि छह नोकषाय भी औदयिक हैं। आयु के उदय से एक भव में रहना भी औदयिक है। गोत्र कर्म के उदय से होने वाले नीच-उच्च गोत्र भी औदयिक हैं। नाम कर्म के उदय से होने वाली जाति वगैरह भी औदयिक है। इन सबका ग्रहण यहाँ क्यों नहीं किया ?

समाधान – इन सबका अन्तर्भाव इन्हीं इक्कीस भावों में हो जाता है। दर्शनावरण के उदय से होनेवाले अदर्शन वगैरह का अन्तर्भाव मिथ्यादर्शन में किया है। हास्य वगैरह वेद के साथी हैं अतः उन्हें वेद में गर्भित कर लिया है। वेदनीय, आयु और गोत्र के उदयसे होने वाले भावों का अन्तर्भाव गति में कर लिया है। क्योंकि गति के ग्रहण से अघातिया कर्म के उदय से होनेवाले भाव ले लिए गये हैं। इसी प्रकार अन्य भावों का भी अन्तर्भाव कर लेना चाहिये ॥ ६ ॥

अब पारिणामिक भाव के तीन भेद बतलाते हैं-

जीव-भव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

अर्थ – जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन जीव के असाधारण पारिणामिक भाव हैं। ये भाव जीव के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं होते। तथा इनके होने में किसी कर्म का उदय वगैरह भी कारण नहीं है। अतः ये असाधारण पारिणामिक भाव कहलाते हैं। वैसे साधारण पारिणामिक भाव तो अस्तित्व, नित्यत्व, प्रदेशत्व आदि बहुत से हैं, किन्तु वे भाव अन्य अजीव द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। इसीलिए उनको "च" शब्द से ग्रहण कर लिया है। जीवत्व नाम चैतन्य का है। चैतन्य जीव का स्वाभाविक गुण है। इसलिए यह पारिणामिक है। जिसमें सम्यग्दर्शन आदि परिणामों के होने की योग्यता है वह भव्य है और जिसमें वैसी योग्यता का अभाव है वह अभव्य है। ये दोनों बातें भी स्वाभाविक ही हैं। जैसे जिन उड़द, मूंग वगैरह में पकने की शक्ति होती हैं, वे निमित्त मिलने पर पक जाते हैं और जिनमें वह शक्ति नहीं होती वे कितनी ही देर पकाने पर भी नहीं पकते। यही दशा जीवों की है ॥ ७ ॥

इस तरह जीव के पाँच भाव होते हैं।

शंका – जीव के ये भाव नहीं हो सकते; क्योंकि ये भाव कर्मबंध की अपेक्षा से बतलाये हैं। और आत्मा अमूर्तिक है, अतः अमूर्तिक

आत्मा मूर्तिक कर्मों से नहीं बँध सकता।

समाधान – आत्मा एकान्त से अमूर्तिक ही नहीं है किन्तु मूर्तिक भी है। कर्मबन्ध की अपेक्षा से तो मूर्तिक है, क्योंकि अनादि काल से संसारी आत्मा कर्म पुद्गलों से दूध-पानी की तरह मिला हुआ है, कभी भी कर्म से जुदा नहीं हुआ। तथा शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से अमूर्तिक है, क्योंकि यद्यपि कर्म और आत्मा दूध और पानी की तरह एक हो रहे हैं फिर भी अपने चैतन्य स्वभाव को छोड़कर आत्मा कभी भी पुद्गलमय नहीं हो जाता अतः अमूर्तिक है।

शंका – जब संसार अवस्था में आत्मा कर्म पुद्गलों के साथ दूध-पानी की तरह मिला हुआ है तो उसको हम कैसे जान सकते हैं कि यह आत्मा है?

समाधान – बंध की अपेक्षा से आत्मा और पुद्गल मिले होने पर भी दोनों के लक्षण भिन्न भिन्न हैं। उस लक्षण से आत्माकी पहचान हो सकती है।

इसीलिए सूत्रकार जीव का लक्षण बतलाते हैं।

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

अर्थ – जीव का लक्षण उपयोग है। चैतन्य के होने पर ही होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। यह उपयोग सब जीवों में पाया जाता है और जीव के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता ॥८॥

अब उपयोग के भेद कहते हैं-

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

अर्थ – वह उपयोग दो प्रकार का है- ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान और कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान। तथा

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।

विशेषार्थ – दर्शन और ज्ञान में साकार और अनाकार का भेद है । पदार्थ का आकार न लेकर जो सामान्य ग्रहण होता है वह दर्शन है । क्योंकि एक पदार्थ से हटकर जब आत्मा दूसरे पदार्थ को जानने को अभिमुख होता है तो पदार्थ और इन्द्रिय का सम्बन्ध होते ही वस्तु के आकार वगैरह का ग्रहण नहीं होता । अतः दर्शन निराकार है । उसके पश्चात् पदार्थ के आकार वगैरह के जानने को ज्ञान कहते हैं । छद्मस्थ के तो दर्शन के पश्चात् ज्ञान होता है; क्योंकि छद्मस्थ पदार्थों को क्रम से जानता है, किन्तु केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं। दर्शन और ज्ञान में ज्ञान प्रधान है इसलिए सूत्र में उसके भेद पहले गिनाये हैं।

शंका – जैसे अवधि ज्ञान के पहले अवधि दर्शन माना है वैसे ही मनःपर्यय ज्ञान के पहले मनःपर्यय दर्शन क्यों नहीं माना ?

समाधान – प्रथम तो आगम में दर्शनावरण कर्म के भेदों में मनःपर्यय दर्शनावरण नाम का कोई भेद नहीं गिनाया । जिसके क्षयोपशम से मनःपर्यय दर्शन हो । दूसरे, मनःपर्यय ज्ञान अपने विषय की अवधि ज्ञान की तरह सीधा ग्रहण नहीं करता । किन्तु मन का सहारा पाकर ग्रहण करता है । अतः जैसे मन अतीत और अनागत पदार्थ का विचार ही करता है । वैसे ही मनःपर्यय ज्ञान भी अतीत अनागत को जानता ही है । तथा वर्तमान पदार्थ को भी विशेष रूप से ही जानता है । तथा मन के निमित्त से होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् मनःपर्यय ज्ञान होता है । इसलिए भी मनःपर्यय दर्शन आवश्यक नहीं है ॥ ९ ॥

आगे जीव के भेद बतलाते हैं-

संसारिणो मुक्ताश्च ।।१०।।

अर्थ – जीव दो प्रकारके हैं – संसारी और मुक्त ।

विशेषार्थ– संसार का मतलब चक्कर लगाना है । उसीको परिवर्तन कहते हैं । परिवर्तन पाँच प्रकार का होता है- द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन । कर्म और नोकर्म पुद्‌गलों को अमुक क्रम से ग्रहण करने और भोगकर छोड़ देने रूप परिभ्रमण का नाम द्रव्य परिवर्तन है । लोकाकाश के सब प्रदेशों में अमुक क्रम से उत्पन्न होने और मरने रूप परिभ्रमण का नाम क्षेत्र परिवर्तन है । क्रमवार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में जन्म लेने और मरने रूप परिभ्रमण का नाम काल परिवर्तन है । नरकादि गतियों में बार-बार उत्पन्न होकर जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त सब आयु को भोगने रूप परिभ्रमण का नाम भव परिवर्तन है । इतना विशेष है कि देव गति में इकतीस सागर तक की ही आयु भोगनी चाहिए । सब योगस्थानों और कषाय स्थानों के द्वारा क्रम से ज्ञानावरण आदि सब कर्मों की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति को भोगने रूप परिभ्रमण को भाव परिवर्तन कहते हैं । संक्षेप में यह पाँच परिवर्तनों का निर्देश मात्र है । इस पंच परिवर्तन रूप संसार से जो जीव छूट जाते हैं वे मुक्त कहलाते है । संसारी पूर्वक हो मुक्त जीव होते हैं । इसलिए सूत्र में संसारी को पहले रक्खा है ॥१०॥

अब संसारी जीव के भेद कहते हैं-

समनस्काऽमनस्काः ।।११।।

अर्थ – संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं- मन सहित और मन रहित। मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं । संज्ञी जीव शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, बुलाने पर आ जाते हैं और इशारे वगैरह को समझ लेते हैं । मन रहित जीवों को असंज्ञी कहते हैं । असंज्ञी जीव शिक्षा उपदेश वगैरह ग्रहण नहीं कर सकते । इससे अमनस्क को सूत्र में पीछे रक्खा और समनस्क को पहले रक्खा है ॥ ११ ॥

आगे संसारी जीव के और भी भेद बतलाते हैं-

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अर्थ – संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। जिसके त्रस नाम कर्म का उदय होता है वह जीव त्रस कहलाता है और जिसके स्थावर नाम कर्म का उदय होता है वह जीव स्थावर कहलाता है।

विशेषार्थ – कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो चलें फिरें वे त्रस हैं और जो एक ही स्थान पर ठहरे रहें वे स्थावर हैं। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से जो जीव गर्भ में है या अण्डे में है या चुपचाप पड़े सोते हैं अथवा मूर्छित पड़े हैं वे त्रस नहीं कहे जा सकेंगे। तथा हवा आग और पानी स्थावर हैं किन्तु इनमें हलन-चलन वगैरह देखा जाता है अतः वे त्रस कहे जायेंगे। इसलिए चलने और ठहरे रहने की अपेक्षा त्रस स्थावरपना नहीं है किन्तु त्रस और स्थावर नाम कर्म की अपेक्षा से ही है। इस सूत्र में भी त्रस शब्द को स्थावर से पहले रखा है क्योंकि त्रस स्थावर से पूज्य है तथा अल्प अक्षर वाला भी है ॥ १२ ॥

स्थावर का अधिक कथन नहीं है। इसलिए सूत्रकार क्रम का उल्लंघन करके त्रस से पहले स्थावर के भेद कहते हैं-

पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पतयःस्थावराः ॥१३॥

अर्थ – पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं। इन स्थावर जीवों के चार प्राण होते हैं- स्पर्शन इंद्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

विशेषार्थ – आगम में इन पाँचों स्थावरों में से प्रत्येक के चार-चार भेद बतलाये हैं। जैसे, पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवी-जीव। जो स्वयं ही बनी हुई अचेतन जमीन है उसे पृथिवी कहते हैं। जिस पृथिवी में से जीव निकल गया उसे पृथिवी-काय कहते हैं। जीव सहित

पृथिवी को पृथिवीकायिक कहते हैं। जो जीव पहले शरीर को छोड़कर पृथिवीकाय में जन्म लेने के लिए जा रहा है, जब तक वह पृथिवी को अपने शरीर रूपसे ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक उस जीव को पृथिवी जीव कहते हैं। इसी तरह अप् (जल) तेज, वगैरह के भी भेद जान लेने चाहिए ॥१३॥

अब त्रसके भेद कहते हैं-

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

अर्थ – दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं। दो इन्द्रिय जीव के छह प्राण होते हैं- स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। तेइन्द्रिय के एक घ्राणेन्द्रिय के बढ़ जाने से सात प्राण होते हैं। चौइन्द्रिय के एक चक्षु इन्द्रिय के बढ़ जाने से आठ प्राण होते हैं। पंचेन्द्रिय असैनीके एक श्रोत्र इन्द्रिय के बढ़ जाने से नौ प्राण होते हैं। और सैनी पंचेन्द्रिय के मनो-बल के बढ़ जाने से दस प्राण होते हैं ॥ १४ ॥

अब इन्द्रियों की संख्या बतलाते हैं-

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अर्थ – इन्द्रियाँ पांच होती हैं ॥ १५ ॥

इन इन्द्रियों के भेद कहते हैं-

द्विविधानि ॥१६॥

अर्थ – इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय॥१६॥

अब द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप कहते हैं-

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ – निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। कर्म के द्वारा

होनेवाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है-आभ्यान्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति । उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्म प्रदेशों की इन्द्रियों के आकार रचना होने को आभ्यान्तर निर्वृत्ति कहते हैं। तथा उन आत्म प्रदेशों के प्रतिनियत स्थान में पुद्‌गलों की इन्द्रिय के आकार रचना होने को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं । निर्वृत्ति का उपकार करनेवाले पुद्‌गलों को उपकरण कहते हैं। उपकरण के भी दो भेद होते हैं- आभ्यान्तर और बाह्य। जैसे नेत्रों में जो काला और सफेद मण्डल है वह आभ्यान्तर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं ॥ १७॥

आगे भावेन्द्रिय का स्वरूप कहते हैं-

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अर्थ – लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। इस लब्धि के होने पर ही जीव के द्रव्येन्द्रियों की रचना होती है; तथा लब्धि के निमित से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

विशेषार्थ – आशय यह है कि किसी जीव मे देखने की शक्ति तो है किन्तु उसका उपयोग दूसरी ओर होने से वह सामने स्थित वस्तु को भी नही देख सकता है। इसी तरह किसी वस्तु को जानने की इच्छा के होते हुए भी यदि क्षयोपशम न हो तो नही जान सकता । अतः ज्ञानवरण कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा में जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा जो ज्ञेय पदार्थ की ओर अभिमुख होता है वह उपयोग है। लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थों का ज्ञान होता है॥ १८॥

इन्द्रियों के नाम निम्न प्रकार हैं-

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि ॥१९॥

अर्थ – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियों के नाम हैं।

विशेषार्थ – वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से तथा अंगोपांग नाम कर्म का उदय होने से आत्मा जिसके द्वारा पदार्थ को छू कर जानता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा रसको ग्रहण करता है उसे रसना इंद्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा गन्ध को ग्रहण करता है उसे घ्राण इंद्रिय कहते हैं । जिसके द्वारा देखता है उसे चक्षु इंद्रिय कहते हैं और जिसके द्वारा सुनता है उसे श्रोत्र इंद्रिय कहते हैं ॥१९ ॥

अब इन इन्द्रियों के विषय बतलाते हैं-

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

अर्थ – स्पर्शन इंद्रियका विषय स्पर्श है। रसना इंद्रिय का विषय रस है। घ्राण इंद्रिय का विषय गन्ध है। चक्षु इंद्रिय का विषय रूप है और श्रोत्र इंद्रिय का विषय शब्द है। ऐसे ये पाँचों इंद्रियों के पाँच विषय हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषय को ही ग्रहण करती है, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती ॥ २० ॥

शंका – मन उपयोग में सहायक है या नहीं?

समाधान – सहायक है, बिना मनकी सहायता के इंद्रियाँ अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति नहीं करतीं।

शंका – तो क्या मनका काम इतना ही है कि वह इंद्रियों की सहायता करे, या वह स्वयं भी कुछ जानता है ?

आचार्य इसके समाधान के लिये सूत्र कहते हैं-

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अर्थ – अनिन्द्रिय अर्थात् मन और श्रुत अर्थात् श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ । श्रुत ज्ञान का विषयभूत पदार्थ मनका विषय है । अर्थात्

श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन की सहायता से ही आत्मा श्रुतज्ञान के विषय को जानता है। अतः श्रुतज्ञान का होना मन का प्रमुख काम है। अपने इस काम में वह किसी इन्द्रिय की सहायता नही लेता ॥२१॥

अब स्पर्शन इन्द्रिय किसके होती है सो बतलाते हैं-

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अर्थ – पृथिवी कायसे लेकर वनस्पति काय पर्यन्त जीवो के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ॥२२॥

आगे शेष इन्द्रियों के स्वामियों को बतलाते हैं-

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

अर्थ – कृमि आदि के एक एक इन्द्रिय अधिक होती है। अर्थात लट, शंख, जोंक वगैरह के स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी, खटमल वगैरह के स्पर्शन, रसना, ध्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौंरा, मक्खी, डाँस मच्छर वगैरह के स्पर्शन, रसना, ध्राण और चक्षु ये चार इन्द्रिया होती हैं । और मनुष्य, पशु, पक्षी, वगैरह के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं ॥ २३ ॥

अब संज्ञी जीव का स्वरूप बतलाते हैं-

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

अर्थ – मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं अतः मन रहित जीव असंज्ञी कहलाते हैं । एकेन्द्रिय,दो इन्द्रिय,ते इन्द्रिय,चौ इन्द्रिय जीव तो सब असंज्ञी ही होते हैं। पंचेन्द्रियों मे देव, नारकी और मनुष्य संज्ञी ही होते हैं किन्तु तिर्यंच मन रहित भी होते हैं।

शंका – मन का काम हित और अहित की परीक्षा करके हित को गहण करना और अहित को छोड देना है। इसीको संज्ञा कहते हैं। अतः

जब संज्ञा और मन दोनों का एक ही अभिप्राय है तो संज्ञी और समनस्क का मतलब भी एक ही है । फिर सूत्र मे दोनों पद क्यों रखे? केवल 'संज्ञिनः' कहने से भी काम चल सकता है।

समाधान – यह आपत्ति ठीक नही है। क्योकि प्रथम तो संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ हैं-संज्ञा नाम को भी कहते हैं । अतः जितने नामवाले पदार्थ हैं वे संज्ञी कहलायेंगे। संज्ञा ज्ञान को भी कहते हैं और ज्ञान सभी जीवों मे पाया जाता है। अतःसभी संज्ञी कहे जायेंगे । भोजन वगैरह की इच्छा का नाम भी संज्ञा है जो सभी जीवों मे पायी जाती है। अतः सभी संज्ञी हो जायेंगे। इसलिए जिसके मन है उसी को संज्ञी कहना उचित है। दूसरे, गर्भ अवस्था में, मूर्छित अवस्था में, सुप्त अवस्था में, हित-अहित का विचार नही होता, अतः उस अवस्था में, संज्ञी जीव भी असंज्ञी कहे जायेंगे । किन्तु मन के होने से उस समय भी वे संज्ञी ही हैं। अतः संज्ञी और समनस्क दोनों पदों को रखना उचित है ॥ २४ ॥

शंका – जिस समय जीव पूर्व शरीर को छोड़ कर नया शरीर धारण करने के लिए जाता है उस समय उनके मन तो रहता नहीं है। फिर वह कैसे गमन करता है?

इस शंका का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

अर्थ – 'विग्रह' शब्द के दो अर्थ हैं। विग्रह अर्थात् शरीर्; शरीर के लिए गमन करने को विग्रहगति कहते हैं। अथवा विरुद्ध ग्रहण करने को विग्रह कहते हैं। इसका आशय यह है कि संसारी जीव हमेशा कर्म और नोकर्मको ग्रहण करता रहता है, किन्तु विग्रहगति में पुद्गलों का तो ग्रहण होता है, नोकर्म पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता । इसलिए उसको विरुद्ध ग्रहण कहा है। और विरुद्ध ग्रहण पूर्वक जो गमन होता है उसे विग्रह गति कहते हैं। तथा कार्मण शरीर को कर्म कहते हैं। उस कार्मण

शरीर के द्वारा जो आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है उसको कर्मयोग कहते हैं। अतः सूत्र का अर्थ हुआ - विग्रहगति में कर्मयोग होता है। उस कर्मयोग के द्वारा ही जीव नवीन कर्मों को ग्रहण करता है तथा मृत्यु स्थान से अपने जन्म लेने के नये स्थान तक जाता है ॥ २५ ॥

अब यह बताते हैं कि जीव और पुदगलों का गमन किस कर्म से होता है-

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

अर्थ - लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिर्यक् दिशा मे आकाश के प्रदेशों की सीधी कतार को श्रेणी कहते हैं जीवों और पुद्गलों को गति, आकाश के प्रदेशों की पंक्ति के अनुसार ही होती है, पंक्ति को लांध कर विदिशाओं में गमन नहीं होता।

शंका - यहाँ तो जीव का अधिकार है, पुदगल का ग्रहण यहाँ कैसे किया?

समाधान - यहाँ 'विग्रहगती कर्मयोगः' सूत्र से गति का अधिकार है। फिर इस सूत्र में 'गति' पद का ग्रहण करने के लिए ही किया गया है। तथा आगे 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्र में जीव का अधिकार होते हुए जो जीव का ग्रहण किया है। उससे भी यही अर्थ निकलता है कि यहाँ पुद्गल की गति भी बतलाइ गयी है।

विशेषार्थ - यद्यपि यहाँ जीव और पुदगल की गति श्रेणी के अनुसार बतलायी है किन्तु इतना विशेष है कि किसी भी जीव पुदगलों की गति श्रेणी के अनुसार नहीं होती। जिस समय जीव मर कर नया शरीर धारण करने के लिए जाता है उस समय उसकी गति श्रेणी के अनुसार ही होती है। तथा पुद्गल का शुद्ध परमाणु जो एक समय में चौदह राजु गमन करता है वह भी श्रेणी के अनुसार ही गमन करता है। शेष गतियों के लिए कोइ नियम नहीं है ॥ २६ ॥

अब मुक्त-जीव की गति बतलाते हैं-

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

अर्थ - मुक्त जीव की गति मोड़े रहित होती है। अर्थात् मुक्त जीव श्रेणी के अनुसार ऊपर गमन करके एक समय मे ही सिद्ध क्षेत्र मे जाकर ठहर जाता है।

शंका - सूत्र मे तो केवल जीव कहा है फिर उसका अर्थ मुक्त जीव कैसे ले लिया?

समाधान - आगे के सूत्र में 'संसारी' का ग्रहण किया है अतः इस सूत्र मे जीव से मुक्त जीव लेना चाहिए ॥ २७ ॥

संसारी जीव जब परलोक को जाता है तो उसकी गति कैसी होती है,यह बतलाते हैं -

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

अर्थ - संसारी जीव की गति चार समय से पहले मोड़ सहित होती है। अर्थात् संसारी जीव जब नया शरीर धारण करने के लिए गमन करता है तो श्रेणी के अनुसार ही गमन करता है। किन्तु यदि मरण स्थान से लेकर जन्म स्थान तक जाने के लिए सीधी श्रेणी नहीं होती तो स्थान के अनुसार एक, दो या तीन मोड़ लेता है। प्रत्येक मोड़ में एक समय लगता है। अतः एक मोड़ वाली गति मे दूसरे समय में जन्म स्थान पर पहुँचता है, दो मोड़े वाली गति में तीसरे समय में और तीन मोड़ वाली गति में चौथे समय में अपने जन्म स्थान पर पहुँच जाता है। सूत्र में आये 'च' शब्द से यह अर्थ लेना चाहिए कि संसारी जीव की गति बिना मोड़े वाली भी होती है॥२८॥

आगे बतलाते हैं कि बिना मोड़े वाली गति में कितना काल लगता है-

एक समयाऽविग्रहा ॥२९॥

अर्थ – बिना मोड़े वाली गति मे एक समय लगता है। इसी को ऋजुगति कहते हैं ॥ २९ ॥

आगे विग्रह गति मे आहारक और अनाहारक का नियम बतलाते हैं -

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

अर्थ – विग्रह गति में जीव एक समय, दो समय अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीर और छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। और शरीर के योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण न करने को अनाहार कहते हैं। जो एक मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह एक समय तक अनाहारक रहता है। जो दो मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह दो समय तक अनाहारक रहता है और जो तीन मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह तीन समय तक अनाहारक रहता है। अर्थात् मोड़े के समय अनाहारक रहता है। किन्तु जब मोड़ा समाप्त करके अपने उत्पति स्थान के लिए सीधा गमन करता है उस समय आहारक हो जाता है ॥ ३० ॥

इस तरह छह सूत्रो के द्वारा गति का कथन करके जन्म के भेद बतलाते हैं-

सम्मूर्छन - गर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

अर्थ – जन्म तीन प्रकार का है-सम्मूर्छन -जन्म, गर्भ-जन्म और उपपाद जन्म। तीनों लोकों में सर्वत्र बिना माता पिता के सम्बन्ध के सब ओर से पुद्‌गलों को ग्रहण करके जो शरीर की रचना हो जाती है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं। स्त्री के उदर में माता-पिता के रज-वीर्य के मिलने से जो शरीर की रचना होती है उसे गर्भ जन्म कहते हैं; और जहाँ

जाते ही एक अन्तमुहुर्त में पूर्ण शरीर बन जाता है ऐसे देव और नारकियों के जन्म को उपपाद जन्म कहते हैं। इस तरह संसारी जीवों के तीन प्रकार के जन्म होते हैं ॥ ३१ ॥

आगे योनि के भेद बतलाते हैं -

सचित-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ – सचित्त-शीत-संवृत, इनके उल्टे अचित, उष्ण, विवृत, और इन तीनों का मेल अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत-विवृत, ये योनि के नौ भेद हैं। जीवों के उत्पन्न के स्थान विशेष को योनि कहते हैं। जो योनि चेतना सहित हो उसे सचित्त योनि कहते हैं, अचेतन हो तो अचित्त कहते हैं, और दोनों रूप हो तो सचित्ताचित्त कहते हैं। शीत स्पर्श रूप हो तो शीतयोनि कहते हैं, उष्ण स्पर्शरूप हो तो उष्णयोनि कहते हैं,और दोनों रूप हो तो शीतोष्णयोनि कहते हैं। योनि स्थान ढका हुआ हो, स्पष्ट दिखायी न देता हो तो उसे संवृत योनि कहते हैं। स्पष्ट दिखायी देता हो तो उसे विवृत योनि कहते हैं और कुछ ढका हुआ तथा कुछ खुला हुआ हो तो उसे संवृत-विवृत कहते हैं। योनि और जन्म में आधार और आधेय का भेद है। योनि आधार है और जन्म आधेय है; क्योकि सचित आदि योनियों मे जीव सम्मूर्छन आदि जन्म लेकर उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ – उदाहरण के रूप मे यहाँ कुछ जीवों की योनियाँ बतलाते हैं-उक्त नौ योनियों में से देव नारकियों की योनि अचित्त, शीत और उष्ण तथा संवृत होती है। गर्भ जन्मवालों की योनि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण तथा संवृत-विवृत होती है। सम्मूर्छन जन्मवालों की योनि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण होती है। इतना विशेष है कि तेजस्कायिक जीवों की उष्ण योनि ही होती है। तथा एकेन्द्रियों की संवृत्तयोनि और विकलेन्द्रियों की विवृत्त योनि होती है। इस तरह सामान्य से नौ योनियाँ होती हैं और विस्तार से चौरासी लाख योनियाँ कही हैं ॥ ३२ ॥

अब बतलाते है किन प्राणियो का कौन जन्म होता है-

जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थ - जरायुज, अण्ड, और पोत इन तीन प्रकार के प्राणियो के गर्भ जन्म होता है। जन्म के समय प्राणियों के ऊपर जाल की तरह जो रुधिर मांस की खोल लिपटी रहती है उसे जरायु या जेर कहते हैं, और उससे जो उत्पन्न होते हैं उसे जरायुज कहते हैं। जैसै मनुष्य बैल वगैरह। जो जीव अण्डे से उत्पन्न होते हैं उसे अण्डज कहते हैं- जैसै कबूतर आदि पक्षी। और जिसके उपर कुछ भी आवरण नही होता तथा जो योनि से निकलते ही चलने फिरने लगता है उसे पोत कहते हैं, जैसे शेर वगैरह। इन तीनो प्रकार के प्राणियों के गर्भ जन्म ही होता है ॥ ३३ ॥

आगे बतलाते हैं कि उपपाद जन्म किसके होता है-

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

अर्थ - देवों और नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है ॥३४॥

आगे शेष जीवों के कौन जन्म होता है यह बतलाते हैं-

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥३५॥

अर्थ - गर्भ जन्म वाले मनुष्य तिर्यन्चों और उपपाद जन्मवाले देव नारकियों के सिवा बाकी के एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों और किन्ही पंचेन्द्रिय तिर्यन्चों के सम्मूर्छन जन्म ही होता है ॥३५॥

अब शरीरों का वर्णन करते हैं -

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

अर्थ - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण ये पाँच शरीर हैं। स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। जो एक, अनेक, सूक्ष्म, स्थूल, हलका, भारी किया जा सके उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। छठे

गुणस्थानवर्ती मुनि के द्वारा सूक्ष्म पदार्थ को जानने के लिए, अथवा संयम की रक्षा के लिए, अन्य क्षेत्र में वर्तमान केवली या श्रुत केवली के पास भेजने को अथवा अन्य क्षेत्र के जिनालयों की वंदना करने के उद्देश्य से जो शरीर रचा जाता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक आदि शरीरों को कांति देनेवाला शरीर तेजस कहलाता है। ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं ॥ ३६ ॥

जैसे औदारिक शरीर दिखायी देता है वैसे वैक्रियिक आदि शरीर क्यों नही दिखायी देते ? इसका उत्तर देते हैं-

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अर्थ - औदारिक के आगे के शरीर सूक्ष्म होते हैं। अर्थात् औदारिक से वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिक से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तेजस सूक्ष्म है और तेजस से कार्मण सूक्ष्म है ॥ ३७ ॥

यदि आगे आगे के शरीर सूक्ष्म हैं तो उनके बनने में पुदगल के परमाणु भी कम कम लगते होंगे इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

अर्थ - यहाँ प्रदेश शब्द का अर्थ परमाणु है। परमाणुओं की अपेक्षा से तेजस से पहले के शरीर असंख्यात गुने हैं। अर्थात् औदारिक शरीर में जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुने परमाणु वैक्रियिक शरीर में हैं और वैक्रियिक शरीर से असंख्यात गुने परमाणु आहारक शरीर में होते हैं।

शंका - यदि आगे आगे के शरीर मे असंख्यात गुने, असंख्यात गुने परमाणु होते हैं तो आगे-आगे के शरीर तो औदारिक से भी स्थूल होने चाहिए। फिर आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

समाधान - असंख्यात गुने, असंख्यात गुने परमाणुओं से बने होने

पर भी आगे के शरीर स्थूल नहीं हैं । बल्कि बन्धन के ठोस होने से उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । जैसे रूई का ढेर और लोहे का पिण्ड ॥३८॥

आगे तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश बतलाते हैं-

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

अर्थ - आहारक शरीर से तैजस में अनन्त गुने परमाणु होते हैं और तैजस से कार्मण मे अनन्त गुने परमाणु होते हैं ॥ ३९ ॥

शंका - यदि तैजस और कार्मण शरीर में इतने परमाणु होते हैं तो इन दोनों शरीरों के साथ होने से संसारी जीव अपने इच्छित प्रदेश को गमन कर नहीं सकेगा ।

इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अप्रतिघाते ॥४०॥

अर्थ - तैजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाती है । अर्थात् जैसे अग्नि लोहे के पिण्ड मे घुस जाती है वैसे ही ये दोनों शरीर भी वज्रमय पटल से भी नहीं रूकते हैं ।

शंका - वैक्रियिक और आहारक शरीर भी सूक्ष्म होने के कारण किसी से रुकते नहीं हैं, फिर इनको अप्रतिघाती क्यों नहीं कहा ?

समाधान - यहां उन्हीं को अप्रतिघाती कहा है जो समस्त लोक में कहीं भी नही रुकते । वैक्रियिक और आहारक समस्त लोक मे अप्रतिघाती नहीं हैं । क्योंकि आहारक शरीर तो अढ़ाईद्वीप तक ही जा सकता है, और मनुष्यों को ऋद्धि द्वारा प्राप्त हुआ वैक्रियिक भी मनुष्य लोक तक ही जा सकता है । तथा देवों का वैक्रियिक शरीर त्रस नाली के भीतर ही ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक और नीचे तीसरे नरक तक जा सकता है । अतः समस्त लोक में अप्रतिघाती तो तैजस और कार्मण ही हैं ।

इन दो शरीरो के विषय में और भी विशेष कहते हैं -

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

अर्थ - यहाँ च शब्द विकल्पार्थक है । अतः आत्मा से तैजस और कार्मण का सम्बन्ध अनादि भी है और सादि भी है । कार्य कारण रूप बन्ध की परम्परा की अपेक्षा तो अनादि सम्बन्ध है । अर्थात् जैसे औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक शरीर का सम्बन्ध अनित्य है, कभी कोई शरीर होता है और कभी नहीं होता । ऐसी बात तैजस और कार्मण में नहीं है । ये दोनों शरीर तो सब अवस्थाओं में संसारी जीव के साथ सदा ही रहते हैं । अतः अनादि हैं । तथा पहले के बंधे तैजस और कार्मण की प्रति समय निर्जरा होती रहती है और नवीन का बन्ध होता रहता है । इस अपेक्षा से सादि हैं ।

विशेषार्थ - जो लोक शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध सर्वथा सादि या सर्वथा अनादि ही मानते हैं उनके मत में अनेक दोष आते हैं । यदि आत्मा से शरीर का सम्बन्ध सादि ही माना जाये तो शरीर का समबन्ध होने से पहले आत्मा अत्यंत शुद्ध ठहरी । ऐसी अवस्था मे सर्वथा शुद्ध आत्मा के साथ शरीर के समबन्ध बिना निमित्त कैसे हो सकता है ? यदि शुद्ध आत्मा के भी बिना निमित्त के शरीर का सम्बन्ध हो सकता है तो मुक्त जीवों के भी फिर से शरीर समबन्ध होने का प्रसंग आ जायेगा । तब तो मुक्तात्मा का ही अभाव हो जायेगा । यदि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध एकान्त से अनादि ही माना जायेगा तो जो सर्वथा अनादि होता है उसका अन्त नहीं होता । अतः जीव की कभी भी मुक्ति नहीं होगी । इसलिए शरीर का सम्बन्ध कदाचित् सादि और कदाचित् अनादि ही मानना उचित है ॥ ४१ ॥

प्रश्न - ये दोनों शरीर किसी किसी जीव के होते हैं अथवा सब जीवों के होते हैं ?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सर्वस्य ॥४२॥

अर्थ-ये दोनो शरीर सभी संसारी जीवो के होते हैं ॥ ४२ ॥

आगे बतलाते हैं कि इन पाँच शरीरों में से एक जीव के एक साथ कितने शरीर हो सकते हैं ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थ – तैजस और कार्मण शरीर को लेकर एक जीव के एक समय में चार शरीर तक विभाग कर लेना चाहिये । अर्थात् विग्रह गति में तो जीव के तैजस और कार्मण ये दो शरीर ही होते हैं। विग्रह गति के सिवा अन्य अवसरों पर मनुष्य और तिर्यन्चों के औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं । तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती किसी-किसी मुनि के औदारिक, आहारक, तैजस, कार्माण या औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण ये चार शरीर होते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर एक साथ न होने से एक साथ पांच शरीर नहीं होते ॥ ४३ ॥

आगे शरीर के विषय में विशेष कथन करते हैं-

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

अर्थ – अंत का कार्मण शरीर उपभोग रहित है । इन्द्रियों के द्वारा शब्द वगैरह के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं। इस प्रकार का उपभोग कार्मण शरीर में नहीं होता इसलिए वह निरुपभोग है। आशय यह है कि विग्रह-गति में कार्मण शरीर के द्वारा ही योग होता है किन्तु उस समय लब्धिरूप भावेन्द्रिय ही होती है, द्रव्येन्द्रिय नहीं होती । इसलिए शब्द आदि विषयों का अनुभव विग्रह गति में न होने से कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा है ।

शंका – तैजस शरीर भी तो निरुपभोग है फिर उसे क्यों नहीं कहा?

समाधान – तैजस शरीर तो योग में भी निमित्त नहीं है । अर्थात् जैसे अन्य शरीरों के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है, तैजस के निमित्त से तो वह भी नहीं होता। अतः वह तो निरुपभोग ही है इसी से यहाँ उसका कथन नहीं किया; क्योंकि निरुपभोग और सोपभोग का विचार करते समय उन्हीं शरीरों का अधिकार है जो योग में निमित्त होते हैं। ऐसे शरीर तैजस के सिवा चार ही हैं उनमें भी केवल कार्मण शरीर निरुपभोग है बाकी के तीन शरीर सोपभोग हैं क्योंकि उनमें इन्द्रियाँ होती हैं और उनके द्वारा जीव विषयों को भोगता है ॥ ४४ ॥

अब यह बतलाते हैं कि किस जन्म से कौनसा शरीर होता है-

गर्भ-सम्मूर्छनजमाद्यम् ॥४५॥

अर्थ – गर्भ जन्म तथा सम्मूर्छन जन्म से जो शरीर उत्पन्न होता है वह औदारिक शरीर है ॥ ४५ ॥

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

अर्थ – उपपाद जन्म से जो शरीर उत्पन्न होता है वह वैक्रियिक शरीर है ॥४६॥

यदि वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से उत्पन्न होता है तो क्या बिना उपपाद जन्म के वैक्रियिक शरीर नहीं होता ? इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

अर्थ – लब्धि से भी वैक्रियिक शरीर होता है। विशेष तपस्या करने से जो ऋद्धि की प्राप्ति होती है उसे लब्धि कहते हैं। अतः मनुष्यों के तप के प्रभाव से भी वैक्रियिक शरीर हो जाता है ॥४७॥

तप के प्रभाव से वैक्रियिक शरीर ही होता है या अन्य शरीर भी होते हैं? इस आशंका का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

तैजसमपि ।।४८।।

अर्थ – तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय होता है।

विशेषार्थ – तैजस शरीर दो प्रकार का होता है- एक शरीर से निकल कर बाहर जानेवाला और दूसरा शरीर में ही रह कर उसको कान्ति देने वाला, जो सब संसारी जीवों के पाया जाता है। निकलने वाला तैजस शुभ भी होता है और अशुभ भी। किसी क्षेत्र के लोगों को रोग, दुर्भिक्ष वगैरह से पीड़ित देखकर यदि तपस्वी मुनि के हृदय में अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाय तो दाहिने कन्धे से शुभ तैजस निकल कर बारह योजन क्षेत्र के मनुष्यों का दु:ख दूर कर पुनः मुनि के शरीर में प्रविष्ठ हो जाता है। और यदि तपस्वी मुनि किसी क्षेत्र के मनुष्यों पर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं तो उनके तप के प्रभाव से बाएँ कन्धे से सिन्दूर के समान लाल अशुभ तैजस निकलता है और उस क्षेत्र में जाकर बारह योजन के भीतर के जीवों को जलाकर राख कर देता है। पश्चात मुनि को भी जला डालता है॥४८॥

आगे आहारक शरीर का स्वरूप कहते हैं-

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।।४९।।

अर्थ –आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है और प्रमत्त संयत मुनि के ही होता है।

विशेषार्थ – आहारक शरीर का रंग सफेद, और ऊँचाई एक हाथ होती है। समचतुरस्त्र संस्थान होता है, धातु उपधातु से रहित होता है। न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। प्रमत्त-संयत मुनि के मस्तक से उत्पन्न होता है। कभी तो ऋद्धि का सद्भाव जानने के लिए आहारक शरीर की रचना होती है। कभी सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करने के लिए। सो मुनि मस्तक से निकल कर वह केवली भगवान के पास जाता है और सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करके अन्तर्मुहूत में लौट कर मुनि के शरीर में ही प्रवेश कर जाता है, तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से भी निकलता है॥४९॥

इस तरह चौदह सूत्रों द्वारा पाँच शरीरों का कथन किया।

अब सूत्रकार लिंग का कथन करते हैं-

नारक-सम्मूर्छिनो नपुंसकानि ।।५०।।

अर्थ – नारकी और सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं॥५०॥

न देवाः ।।५१।।

अर्थ – देव नपुंसक लिंग वाले नहीं होते। देवगति में पुरुष वेद और स्त्री वेद, दो ही वेद होते हैं ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदाः ।।५२।।

अर्थ – नारकी, देव तथा सम्मूर्छन जीवों के सिवा शेष जीव अर्थात् गर्भज, तिर्यंच और मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं। इतना विशेष है कि भोगभूमि तथा म्लेच्छ-खण्ड के मनुष्यों में स्त्री-पुरुष वेद ही होते हैं।॥५२॥

अब आगे यह बतलाते हैं कि कौन कौन जीव पूरी आयु भोग कर ही मरण करते हैं-

औपपादिक-चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।।५३।।

अर्थ – औपपादिक अर्थात् देव नारकी, चरमोत्तम-देह अर्थात् उसी भव से मोक्ष जानेवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोगभूमिया जीव पूरी आयु भोग कर ही शरीर छोड़ते हैं- विष, शस्त्र, वगैरह से इनकी आयु नहीं छिदती। इसके सिवा शेष जीवों की आयु का कोई नियम नहीं है।

विशेषार्थ – कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों की भुज्यमान आयु की उदीरणा होती है। उदीरणा के होने से आयु की स्थिति जल्दी पूरी होकर अकाल में ही मरण हो जाता है। जैसे आम वगैरह को पाल देकर समय से पहले ही पका लिया जाता है। एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट

किया जाता है- किसी जीव ने मनुष्यायु का बन्ध किया और उसकी स्थिति सौ वर्ष की बांधी। सो आयु कर्म का जितना प्रदेश बन्ध किया, सौ वर्ष के जितने समय होते हैं उतने समयों में उन कर्म परमाणुओं की निषेक रचना तत्काल हो गयी। जब वह मरकर मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हुआ तो प्रति समय आयु कर्म का एक एक निषेक उदय में आकर खिरने लगा। यदि इसी तरह क्रम से एक एक समय में एक एक आयु का निषेक उदय में आता रहता तो सौ वर्ष में जाकर पूरे निषेक खिरते और इस तरह वह जीव पूरे सौ वर्ष तक मनुष्य पर्याय में रहकर मरण करता। किन्तु बावन वर्ष की उम्र तक तो एक एक समय में एक एक निषक की निर्जरा होती रही। बाद को पापकर्म का उदय आ जाने से किसी ने उसे जहर दे दिया अथवा उसने स्वयं जहर खा लिया, या कोई भयानक रोग हो गया, अथवा किसी ने मार डाला तो अड़तालीस वर्षों में उदय आनेवाले निषेकों की अन्तमुहूर्त में उदीरणा हो जाती है। यह अकाल मरण कहलाता है। किन्तु यदि किसी ने बावन वर्ष की आयु बाँधी हो और वह बावन वर्ष की आयु पूरी करके मरे तो वह अकाल मरण नहीं है ॥५३॥

शंका – जैसे कर्म भूमि के मनुष्यों और तिर्यन्चों की आयु घट जाती है वैसे ही आयु बढ़ भी सकती है या नहीं ?

समाधान – जो आयु हम भोग रहे हैं वह बढ़ नहीं सकती; क्योंकि उस आयु का बन्ध पूर्व जन्म में हो चुका है। अत: उसमें अब बढ़ने की गुंजाइश नहीं है, हां, घट जरूर सकती है।

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्याय:॥

तृतीय अध्याय

अब जीवों का आधार बतलाते हुए, पहले अधोलोक का वर्णन करते हैं-

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातम: प्रभा-भूमयो।

घनाम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठा: सप्ताधोऽध: ॥१॥

विशेषार्थ – रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा, महातम:प्रभा ये सात भूमियाँ नीचे-नीचे हैं। ये भूमियाँ घनोदधिवात-वलय के आधार हैं; घनोदधि वातावलय घनवात वलय का आधार है; घन वातवलय तनु वातवलय का आधार है और तनु वातवलय आकाश का आधार है। तथा आकाश अपना ही आधार है; क्योंकि आकाश सबसे बड़ा और अनन्त है। इसलिए उसका आधार कोई दूसरा नहीं हो सकता।

विशेषार्थ – रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसकी मोटाई के तीन भाग हैं। ऊपर का खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसके नीचे का पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और उसके नीचे का अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। खर भाग के ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर बीच के चौदह हजार मोटे और एक राजु प्रमाण लम्बे चौड़े भागों में राक्षसों के सिवा शेष सात प्रकारके व्यन्तर और असुर कुमारों के सिवा शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। पंक भाग में राक्षस और असुर कुमार रहते हैं। और अब्बहुल भाग में प्रथम नरक है जिसमें नारकी रहते हैं। पहली पृथ्वी के नीचे कुछ कम एक राजु अन्तराल छोड़ कर दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी है उसकी मोटाई बत्तीस हजार योजन है। उसके नीचे कुछ कम एक राजु अन्तराल छोड़कर तीसरी बालुका प्रभा पृथ्वी है। वह

अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। उसके नीचे कुछ कम राजु अन्तर देकर चौथी पृथ्वी चौबीस हजार योजन मोटी है। इसी तरह नीचे नीचे कुछ कम एक राजु का अन्तर देकर बीस हजार योजन मोटी पाँचवी पृथ्वी और सोलह हजार योजन मोटी छठी पृथ्वी है। फिर कुछ कम एक राजु का अन्तर देकर आठ हजार योजन मोटी सातवीं पृथ्वी है। सातवीं पृथ्वी से एक राजु नीचे लोक का अन्त है। इन सातों पृथ्वियों की लम्बाई चौड़ाई लोक के अन्त तक है। जिस पृथ्वी का जैसा नाम है वैसी ही उसमें प्रभा है ॥१॥

तासु त्रिंशत्-पंचविंशति-पञ्चदश-दश-त्रि-पंचोनैक-नरक-शतसहस्त्राणि- पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

अर्थ – उन रत्नप्रभा आदि भूमियों में नरकों की संख्या इस प्रकार है- पहली पृथ्वी के अब्बहुल भाग में तीस लाख, दूसरी पृथ्वी मे पच्चीस लाख, तीसरी पृथ्वी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवी मे तीन लाख, छठ्ठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं में पाँच नरक अर्थात् बिल हैं।

विशेषार्थ – जैसे पृथ्वी में गड्ढे होते हैं। वैसे ही नारकियों के बिल होते हैं। कुछ बिल संख्यात योजन लम्बे चौडे हैं और कुछ असंख्यात योजन लंबे चौड़े हैं। पहले नरक की पृथ्वी में तेरह पटल हैं और नीचे-नीचे प्रत्येक पृथ्वी में दो-दो पटल कम होते गये हैं। अर्थात् दूसरी में ग्यारह, तीसरी में नौ, चौथी में सात, पाँचवी में पाँच, छठ्ठी में तीन और सातवीं में एक ही पटल है। इस तरह कुल पृथ्वियों में उनचास पटल हैं जो नीचे-नीचे हैं। इन पटलों में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक, इस तरह तीन प्रकार के बिल होते हैं। प्रत्येक पटल के बीच में जो बिल हैं उसे इन्द्रक बिल कहते हैं। उस इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में जो पंक्तिवार बिल हैं वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं। और दिशा-विदिशाओं के अन्तराल में बिना क्रम के जो बिल हैं उन्हें प्रकीर्णक

कहते हैं। प्रथम पटल की चारों दिशाओं मे उनचास-उन्चास और विदिशाओं में अड़तालीस-अड़तालीस श्रेणीबद्ध बिल हैं। आगे; नीचे-नीचे प्रत्येक पटल की चारों दिशाओं में एक-एक बिल घटता जाता है। इस तरह प्रत्येक पटल में आठ-आठ बिल घटते जाते हैं। घटते-घटते सातवें नरक के पटल में, जो कि उन्चासवां पटल है, केवल दिशाओं में ही एक एक बिल है, विदिशाओं में बिल नहीं हैं; अतः वहाँ केवल पाँच ही बिल हैं। सातों नरकों में कुल बिल चौरासी लाख हैं। जिनमें उनचास इन्द्रक बिल और दो हजार छह सौ चार श्रेणीबद्ध बिल हैं। शेष तेरासी लाख नब्बे हजार तीन सौ सैंतालीस प्रकीर्णक बिल हैं। उनचास इन्द्रक बिलों में से प्रथम नरक का पहला इन्द्रक पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला है जो अढ़ाई द्वीप के बराबर है और उसीके ठीक नीचे है। नीचे क्रम से घटते-घटते सातवें नरक का इन्द्रक एक लाख योजन विस्तार वाला है। सभी इन्द्रक संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, सभी श्रेणीबद्ध असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णकों में से कुछ संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

अब नारकियों का वर्णन करते हैं-

नारका नित्याशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥३॥

अर्थ – नारकी जीवों के सदा अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया होती है।

विशेषार्थ – पहली और दूसरी पृथ्वी के नारकियों के कापोत लेश्या होती है, तीसरी में ऊपर के बिलों में कापोत और नीचे के बिलों में नील लेश्या होती है। चौथी में नील लेश्या ही है। पाँचवी में ऊपर के बिलों में नील और नीचे के बिलों में कृष्ण लेश्या होती है। छठ्ठी में कृष्ण लेश्या ही है और सातवीं में परम कृष्ण ही है। इस तरह नीचे-नीचे अधिक अधिक अशुभ लेश्या होती हैं। उनका स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों का

परिणमन भी वहां के क्षेत्र की विशेषता के निमित्त से अति दुःख का ही कारण होता है। उनका शरीर भी अत्यंत अशुभ होता है। हुण्डक संस्थान के होने से देखने में बड़ा भयंकर लगता है। पहली पृथ्वी के अंतिम पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ, छः अंगुल होती है। नीचे-नीचे प्रत्येक पृथ्वी में दूनी-दूनी ऊँचाई होती जाती है। इस तरह सातवें नरक में पाँचसौ धनुष ऊँचाई होती है। तथा शीत उष्ण की भयंकर वेदना भी है। पहली से लेकर चौथी पृथ्वी तक सब बिल गर्म ही हैं। पाँचवीं में ऊपर के दो लाख बिल गर्म हैं और नीचे के एक लाख बिल ठंडे हैं। छठ्ठी और सातवीं के बिल भयंकर ठंडे हैं। ये नारकी विक्रिया भी बुरी से बुरी ही करते हैं ॥३॥

अब नारकी जीवों को दुःरव कौन देता है सो बतलाते हैं-

परस्परोदीरित-दुःखाः ॥४॥

अर्थ – इसके सिवा नारकी जीव आपस मे ही एक-दूसरे को दुःख देते हैं।

विशेषार्थ – जैसे यहाँ कुत्तों में जातिगत वैमनस्य देखा जाता है वैसे ही नारकी जीव भी कुअवधिज्ञान के द्वारा दूर से ही नारकियों को देखकर और उनको अपने दुःख का कारण जानकर दुखी होते हैं। फिर निकट आनेपर परस्पर के देखने से उनका क्रोध भड़क उठता है। और अपनी विक्रिया के द्वारा बनाये गये अस्त्र-शस्त्रों से आपस में मार काट करने लगते हैं। इस तरह एक दूसरे के टुकड़े-टुकड़े कर डालने पर भी उनका मरण अकाल में नही होता ॥४॥

दुरव के और भी कारण बतलाते हैं-

संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ – संक्लेश परिणाम वाले जो अम्बावरीष जाति के असुर कुमार

देव हैं, वे तीसरी पृथ्वी तक जा कर नारकियों को दुःख देते हैं, उन्हें आपस में लडाते हैं ॥५॥

अब नारकियों की आयु बतलाते हैं-

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अर्थ – नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु पहली पृथ्वी में एक सागर, दूसरी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दश सागर, पाँचवी में सत्रह सागर, छठी में बाईस सागर और सातवीं में तैंतीस सागर होती है ॥६॥

इस तरह अधोलोक का वर्णन किया। आगे मध्य लोक का वर्णन करते हैं। मध्य लोक को तिर्यग्लोक भी कहते हैं, क्योकि स्वयंभूरमण समुद्र तक एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक् (आजू-बाजू) रूप से स्थित हैं। इसी से मध्य लोक का वर्णन प्रारंभ करते हुए सूत्रकार पहले इसी बात की चर्चा करते हैं-

जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप समुद्राः ॥७॥

अर्थ – मध्यलोक मे जम्बूद्वीप और लवण समुद्र वगैरह अनेक द्वीप और समुद्र हैं। अर्थात् पहला द्वीप जम्बूद्वीप है और उसके बाद पहला समुद्र लवण-समुद्र है। लवण समुद्र के बाद दूसरा द्वीप धातकी-खण्ड है। और धातकी खण्ड के बाद दूसरा समुद्र कालोदधि है। कालोदधि के बाद तीसरा द्वीप पुष्करवर है और उसके बाद तीसरे समुद्र का नाम भी पुष्करवर है। इसके आगे जो द्वीप का नाम है वही उसके बाद के समुद्र का नाम है। सबसे अन्तिम द्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है ॥ ७ ॥

आगे इन द्वीप-समुद्रों का विस्तार वगैरह बतलाते हैं -

द्वि-द्वि-विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः॥८॥

अर्थ – इन द्वीप और समुद्रों का विस्तार, आगे आगे दूना दूना होता

गया है, तथा प्रत्येक द्वीप और समुद्र अपने से पूर्व के द्वीप समुद्रो को घेरे हुए चूड़ी के आकार का है। अर्थात् पहले द्वीप का जितना विस्तार है उससे दूना विस्तार पहले समुद्र का है। उससे दूना विस्तार दूसरे द्वीप का है और उससे दूना विस्तार दूसरे समुद्र का है। इस तरह द्वीप से दूना विस्तार समुद्र का है और समुद्र से दूना विस्तार आगे के द्वीप का है। तथा जम्बूद्वीप को लवण समुद्र घेरे हुए है, लवण समुद्र को धातकी खण्ड घेरे हुए है, धातकीखण्ड को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है । इस तरह जम्बूद्वीप के सिवा शेष सब द्वीप और समुद्र चूड़ी के आकारवाले हैं ॥८॥

आगे जम्बूद्वीप का आकार वगैरह बतलाते हैं-

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृ त्तो योजन- शतसहस्त्रविष्कम्भो जम्बूद्वीप: ॥९॥

अर्थ - उन सब द्वीप समुद्रों के बीच मे जम्बूद्वीप है । यह जम्बूद्वीप सूर्य मण्डल की तरह गोल है और उसका विस्तार एक लाख योजन है । उसके बीच में मेरुपर्वत है ।

विशेषार्थ - उत्तर-कुरु भोगभूमि में एक जम्बूवृक्ष (जामुन का पेड़) है। वह वृक्ष पार्थिव है, हरा भरा वनस्पति कायिक नहीं है। इसी से वह अनादि निधन है। उसी कारण यह द्वीप जम्बूद्वीप कहा जाता है ॥९॥

आगे जम्बूद्वीप मे सात क्षेत्र बतलाते हैं-

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षा: क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ - उस जम्बूद्वीप मे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, एरावत ये सात क्षेत्र हैं ।

विशेषार्थ - भरत क्षेत्र में उत्तर में हिमवान् पर्वत है । पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में लवण समुद्र है । भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है। वह पूर्व-पश्चिम लम्बा है तथा पच्चीस योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा है । भूमि से दस योजन ऊपर जाने पर उस विजयार्ध पर्वत के

दक्षिण तथा उत्तर में दो श्रेणियाँ हैं जिनमें विधाधरों के नगर बसे हुए हैं । वहाँ से और दस योजन जाने पर पर्वत के ऊपर दोनों ओर पुन: दो श्रेणियाँ हैं जिनमे व्यन्तर देव बसते हैं। वहाँ से पाँच योजन ऊपर जाने पर विजयार्ध पर्वत का शिखर तल है, जिस पर अनेक कूट बने हुए हैं। इस पर्वत मे दो गुफाएँ हैं जो आर-पार हैं । हिमवान् पर्वत से गिर कर गंगा-सिन्धु नदी इन्हीं गुफाओं की देहली के नीचे से निकल कर दक्षिण भरत मे आती हैं । विजयार्ध पर्वत तथा इन दोनों नदियों के कारण ही भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं । तीन खण्ड विजयार्ध के उत्तर में है और तीन खण्ड दक्षिण में हैं । दक्षिण के तीन खण्डों के बीच का खण्ड आर्यखण्ड कहलाता है। शेष पाँचो म्लेच्छ खण्ड हैं। उक्त गुफाओं के द्वारा ही चक्रवर्ती उत्तर के तीन खण्डों को जीतने जाता और लौट कर वापिस आता है । इसी से इस पर्वत का नाम ' विजयार्ध ' है क्योंकि इस तक पहुँचने पर चक्रवर्ती की आधी विजय हो जाती है। उत्तर के तीन खण्डों के बीच के खण्ड में 'वृषभाचल पर्वत' है, उस पर चक्रवर्ती अपना नाम खोद देता है।

भरत क्षेत्र की तरह ही अन्त का ऐरावत क्षेत्र भी है। उसमे भी विजयार्ध पर्वत वगैरह हैं । तथा विजयार्ध पर्वत और रक्ता, रक्तोदा नदी के कारण उसके भी छः खण्ड हो गये हैं। सब क्षेत्रों के बीच में विदेह क्षेत्र है। यह क्षेत्र निषध और नील पर्वत के मध्य में स्थित है। वहाँ मनुष्य आत्म-ध्यान के द्वारा कर्मो को नष्ट करके देह के बंधन से सदा छूटते रहते हैं। इसीसे उसका 'विदेह' नाम पड़ा हुआ है। उस विदेह क्षेत्र के बीच मे सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के पूर्व दिशा वाले भाग को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा वाले भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं । नील पर्वत से निकल कर सीता नदी पूर्व विदेह के मध्य से होकर बहती है और निषध पर्वत से निकल कर सीतोदा नदी पश्चिम विदेह के मध्य से होकर बहती है। इससे इन नदियों के कारण पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह के भी दो दो भाग हो गये हैं । इस तरह विदेह के चार भाग हैं। प्रत्येक विभाग में आठ आठ उपविभाग

हैं । यह प्रत्येक उपविभाग एक-एक स्वतन्त्र देश है । अतः विदेह क्षेत्र में ८ x ४ = ३२ देश हैं, वे सब विदेह कहलाते हैं ।

सुमेरु पर्वत एक लाख योजन उँचा है । जिसमें एक हजार योजन तो पृथ्वी के अन्दर उसकी नींव है और निन्यान्वे हजार योजन पृथ्वी के ऊपर उठा हुआ है । उसके चारों ओर पृथ्वी पर भद्रशाल नाम का वन है । उससे पाँचसौ योजन ऊपर जाने पर सुमेरु पर्वत के चारों ओर की कटनी पर दूसरा नन्दनवन है । नन्दनवन से साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जा कर पर्वत के चारों ओर की कटनी पर तीसरा सौमनस वन है । सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पर्वत का शिखर तल है । उसके बीच में चालीस योजन उँची चूलिका है और चूलिका के चारों ओर पाण्डुक वन है । इस वन में चारों दिशाओं में चार शिलाएँ हैं । उन शिलाओं पर पूर्व विदेह, पश्चिम विदेह, भरत और ऐरावत क्षेत्र मे जन्म लेने वाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है ॥१०॥

आगे इन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह पर्वतों का कथन करते हैं-

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

अर्थ – उन क्षेत्रों का विभाग करने वाले छः पर्वत है जो पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं । हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि, और शिखरी उनके नाम हैं । वर्ष अर्थात् क्षेत्रों के विभाग को बनाये रखने के कारण उसे 'वर्षधर' कहते हैं ।

विशेषार्थ – भरत और हैमवत क्षेत्र के बीच में हिमवान पर्वत है जो सौ योजन ऊँचा है । हैमवत और हरिवर्ष के बीच में महाहिमवान् है जो दो सौ योजन ऊँचा है । हरिवर्ष और विदेह के बीच में निषध पर्वत है जो चार सौ योजन ऊँचा है । विदेह और रम्यक क्षेत्र के बीच में नील पर्वत है जो

चार सौ योजन ऊँचा है । रम्यक और हैरण्यवत के बीच में रुक्मि है जो दो सौ योजन ऊँचा है । और हैरण्यवत तथा ऐरावत के बीच में शिखरी पर्वत है जो सौ योजन ऊँचा है । ये सभी पर्वत पूरब समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक लम्बे हैं ॥११॥

आगे इन पर्वतों का रंग बतलाते हैं -

हेमार्जुन-तपनीय-वेडूर्य-रजत-हेममयाः ॥१२॥

अर्थ – हिमवान पर्वत चीन देश की सिल्क की तरह पीतवर्ण है । महाहिमवान् चांदी की तरह सफेद है । निषध पर्वत तरुण सूर्य की तरह तपाये हुए सोने के समान रंगवाला है । नील पर्वत मोर के कण्ठ की तरह नीला है । रुक्मि पर्वत चांदी की तरह सफेद है और शिखरी पर्वत चीन देश की सिल्क की तरह पीतवर्ण है ॥१२॥

आगे इन पर्वतों का और भी विशेष वर्णन करते हैं -

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थ – इन पर्वतों के पार्श्व भाग (पखवाड़े); अनेक प्रकार की मणियों से खचित हैं । और मूल,मध्य तथा ऊपर इनका विस्तार समान है । अर्थात् मूल से लेकर ऊपर तक एक सा विस्तार है ॥१३॥

आगे इन पर्वतों पर स्थित तालाबों का वर्णन करते हैं -

पद्म-महापद्म-तिगिंछ-केसरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदा स्तेषामुपरि ॥१४॥

अर्थ – उन पर्वतों के ऊपर पद्म , महापद्म , तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के ह्रद हैं । अर्थात् हिमवान पर पद्म ,महाहिमवान पर महा पद्म, निषध पर तिगिञ्छ, नील पर केसरी , रुक्मि पर महापुण्डरीक और शिखरी पर पुण्डरीक ह्रद हैं ॥१४॥

आगे इन तालाबों का विस्तार बतलाते हैं-

प्रथमो योजन सहस्त्रायामस्तद र्द्ध विष्कम्भो ह्रदः ।।१५।।

अर्थ - पहला पद्म नाम का ह्रद पूरब पश्चिम एक हजार योजन लम्बा है और उत्तर दक्षिण पाँच सौ योजन चौड़ा है ॥१५॥

अब उसकी गहराई बतलाते हैं-

दश-योजनावगाहः ।।१६।।

अर्थ - पद्म ह्रद की गहराई दश योजन है ॥१६॥

आगे इसका विशेष चित्रण करते हैं-

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।।१७।।

अर्थ - उस पद्म ह्रद मे एक योजन लम्बा चौड़ा कमल है ।

विशेषार्थ - यह कमल वनस्पतिकाय नहीं हैं किन्तु कमल के आकार की पृथ्वी है । उस कमलाकार पृथ्वी के बीच में दो कोस की कर्णिका है और उस कर्णिका के चारों ओर एक-एक कोस की पंखुरियाँ हैं । इससे उसकी लम्बाई चौड़ाई एक योजन है ॥१७॥

आगे के ह्रदों और कमलों का विस्तार बतलाते हैं-

तद्‌द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।।१८।।

अर्थ - आगे के ह्रद और कमल प्रथम ह्रद और कमल से दूने-दूने परिमाण वाले हैं । अर्थात् पद्म ह्रद से दूना महापद्मह्रद है । महापद्म से दूना तिगिञ्छ ह्रद है । इन ह्रदों में जो कमल हैं वे भी दूने दूने परिमाण वाले हैं ॥१८॥

इन कमलो पर निवास करनेवाली देवियों का वर्णन करते हैं-

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ।।१९।।

अर्थ - उन कमलों की कर्णिका पर बने हुए महलों में निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ हैं । उनकी एक पल्य की आयु है । और वे सामानिक एवं परिषद् जाति के देवों के साथ रहती हैं । अर्थात् बड़े कमल के आस पास जो और कमलाकार टापू हैं उन पर बने हुए मकान में सामानिक और परिषद् जाति के देव बसते हैं ॥१९॥

अब उक्त क्षेत्र मे बहने वाली नदियों का हाल बतलाते हैं-

गंगा-सिन्धु, रोहिद्-रोहितास्या, हरिद्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्ण-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदाः-सरितस्तन्मध्यगाः ।।२०।।

अर्थ - उन सात क्षेत्रों के बीच से बहनेवाली गंगा-सिन्धु, रोहित्-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला -रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ हैं ॥२०॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।।२१।।

अर्थ - कम से एक एक क्षेत्र में दो दो नदियाँ बहती हैं । और उन दो-दो नदियों में से पहली नदी पूर्व समुद्र को जाती है । अर्थात् गंगा, रोहित्, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदीयाँ पूरब के समुद्र मे जा कर मिलती हैं ॥२१॥

शेषास्त्वपरगाः ।।२२।।

अर्थ - दो-दो नदियों में से पीछेवाली नदी पश्चिम समुद्र को जाती हैं । अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकांता, सीतोदा, नरकांता, रूप्यकूला और रक्तोदा, ये सात नदियाँ पश्चिम समुद्र में जा कर मिलती हैं ।

विशेषार्थ - छः ह्रदों से चौदह नदियाँ निकली हैं । उनमें से पहले पद्म ह्रद और छट्ठे पुण्डरीक ह्रद से तीन-तीन नदियाँ निकली हैं । और शेष चार

से दो-दो नदियाँ निकली हैं। सो पद्म ह्रद के पूर्व द्वार से गंगा नदी, पश्चिम द्वार से सिन्धु नदी, और उत्तर द्वार से रोहितास्या नदी निकली है। दूसरे महापद्म ह्रद के दक्षिण द्वार से रोहित और उत्तर द्वार से हरिकान्ता नदी निकली है। तीसरे तिगिञ्छ ह्रद के दक्षिण द्वार से हरित् और उत्तर द्वार से सीतोदा नदी निकली है। चौथे केसरी ह्रद के दक्षिण द्वार से सीता और उत्तर द्वार से नरकान्ता नदी निकली है। पाँचवे महापुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से सुवर्णकूला, पूर्व द्वार से रक्ता और पश्चिम द्वार से रक्तोदा नदी निकली है ॥ २२ ॥

इन नदियों का परिवार बतलाते हैं-

चतुर्दश-नदी-सहस्त्र परिवृता गंगा-सिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अर्थ – गंगा और सिन्धु नदी चौदह चौदह हजार परिवार नदियों से घिरी हुई हैं। इस सूत्र में जो 'नदी' शब्द दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि इन नदियों का परिवार आगे आगे दूना दूना होता गया है। अतः रोहित् और रोहितास्या की परिवार नदी अठ्ठाईस-अठ्ठाईस हजार हैं। हरित् और हरिकान्ता की परिवार नदी छप्पन हजार हैं। सीता और सीतोदा की परिवार नदी एक लाख बारह हजार , एक लाख बारह हजार है॥२३॥

अब भरत क्षेत्र का विस्तार बतलाते हैं-

भरतः षड्विंशति- पंचयोजन-शत-विस्तारःषड्-
चैकोनविंशति-भागा योजनस्य ॥२४॥

अर्थ – भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सो छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छः भाग प्रमाण है। यह विस्तार दक्षिण से उत्तर तक है ॥२४॥

अन्य क्षेत्रों का विस्तार बतलाते हैं-

तद्-द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

अर्थ – आगे के पर्वत और क्षेत्र विदेह क्षेत्र तक भरत क्षेत्र से दूने दूने विस्तार वाले हैं। अर्थात् हिमवान पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। हिमवान् पर्वत के विस्तार से हैमवत क्षेत्रका विस्तार दूना है। हैमवत क्षेत्र के विस्तार से महाहिमवान् पर्वत का विस्तार दूना है। महा हिमवान् पर्वत से हरिक्षेत्र का विस्तार दूना है। हरि क्षेत्र के विस्तार से निषध पर्वत का विस्तार दूना है। और निषध पर्वत से विदेह क्षेत्र का विस्तार दूना है॥२५॥

आगे के पर्वतो और क्षेत्रो का विस्तार बतलाते हैं।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

अर्थ – उत्तर के ऐरावत से ले कर नील तक जितने क्षेत्र और पर्वत हैं, उनका विस्तार वगैरह दक्षिण के भारत आदि क्षेत्रों के समान ही जानना चाहिए। यह नियम दक्षिण भागका जितना भी वर्णन किया है उस सबके सम्बन्धमें लगा लेना चाहिए। प्रतः उत्तर के ह्रद और कमल आदि का विस्तार वगैरह तथा नदियों का परिवार वगैरह दक्षिण के समान ही जानना चाहिए। सारंश यह है कि भरत और ऐरावत, हिमवान् और शिखरी, हैमवत और हैरण्यवत महाहिमवान और रुक्मि, हरिवर्ष और रम्यक तथा निषध और नीलका विस्तार, इनके ह्रदों और कमलोंकी लम्बाई चौड़ाई वगैरह तथा नदियों के परिवार की संख्या परस्पर में समान है ॥२६॥

आगे भरत आदि क्षेत्रों में रहनेवाले मनुष्यों की स्थिति वगैरह का वर्णन करते हैं-

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ,
षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

अर्थ – भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह समयों के द्वारा मनुष्यों की आयु, शरीर की ऊँचाई, भोगोपभोग

संपदा वगैरह घटती और बढ़ती रहती हैं । उत्सर्पिणी में दिनोंदिन बढ़ती है, अवसर्पिणी में दिनोंदिन घटती है ।

विशेषार्थ – सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषमा दुषमा, दुषमा सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह भेद अवसर्पिणी काल के हैं । और दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ये छह भेद उत्सर्पिणी काल के हैं । अवसर्पिणी का प्रमाण दस कोड़ा-कोड़ी सागर है । इतना ही प्रमाण उत्सर्पिणी काल का है । इन दोनों कालों का एक कल्प काल होता है । सुषमा-सुषमा का प्रमाण चार कोड़ा कोड़ी सागर है । इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की दशा उत्तरकुरु भोग भूमि के मनुष्यों के समान रहती है । फिर क्रम से हानि होते होते दूसरा सुषमा काल आता है वह तीन कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है । उसके प्रारम्भ में मनुष्यों की दशा हरिवर्ष भोगभूमि के समान रहती है । फिर क्रम से हानि होते होते तीसरा सुषमा-दुषमा काल आता है । यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है । इसके प्रारम्भमें मनुष्यों की दशा हैमवत क्षेत्र भोग भूमि के समान रहती है । फिर क्रम से हानि होते होते चौथा दुषमा-सुषमा काल आता है । यह काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोडी सागर तक रहता है । उसके प्रारम्भ में मनुष्यों की दशा विदेह क्षेत्र के मनुष्यों के समान रहती है । फिर क्रम से हानि होते होते पांचवां दुषमाकाल आता है जो इक्कीस हजार वर्ष तक रहता है। यह इस समय चल रहा है । इसके बाद छठा दुषमा-दुषमा काल आता है । यह भी इक्कीस हजार वर्ष रहता है । इस छठे काल के अन्त में भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खण्ड में प्रलय काल आता है । इसमें वायु और वर्षा के वेग से पहाड़ तक चूर चूर हो जाते हैं । मनुष्य मर जाते हैं । बहुत से मनुष्य-युगल पर्वतों की कन्दराओं में छिप कर अपनी रक्षा कर लेते हैं । विष और आग की वर्षा से एक योजन नीचे तक भूमि चूर्ण हो जाती है । उसके बाद उत्सर्पिणी काल आता है । उसके आरम्भ में सात सप्ताह तक सुवृष्टि होती

है । उससे पृथ्वी की गर्मी शान्त हो जाती है और लता वृक्ष वगैरह उगने लगते हैं । तब इधर उधर छिपे हुए मनुष्य युगल अपने अपने स्थानों से निकल कर पृथ्वी पर बसने लगते हैं । इस तरह उत्सर्पिणी का प्रथम अति-दुषमा काल बीत जाने पर दूसरा दुषमा काल आ जाता है । इस काल के बीस हजार वर्ष बीतने पर जब एक हजार वर्ष शेष रहते हैं तो कुलकर पैदा होते हैं जो मनुष्यो ंको कुलाचार की तथा खाना पकाने वगैरह की शिक्षा देते हैं । इसके बाद तीसरा दुषमा सुषमा काल आता है । इसमें तीर्थङ्कर वगैरह उत्पन्न होते हैं । इसके बाद उत्सर्पिणी के चौथे काल में जघन्य भोगभूमि, पाँचवें में मध्यम भोग भूमि और छठे में उत्कृष्ट भोगभूमि रहती है । उत्सर्पिणी काल समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारम्भ हो जाता है । उसके प्रथम काल में उत्कृष्ट भोग भूमि, दूसरे में मध्यम भोग भूमि तथा तीसरे में जघन्य भोग भूमि रहती है । और चौथ से कर्म-भूमि प्रारम्भ हो जाती है ॥ २७ ॥

आगे शेष क्षेत्रों की दशा बतलाते हैं-

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

अर्थ – भरत और ऐरावत के सिवा अन्य क्षेत्र अवस्थित हैं । उनमें सदा एक सी ही दशा रहती है; हानि-वृद्धि नहीं होती ॥ २८ ॥

इन क्षेत्रों के मनुष्यों की आयु बतलाते हैं-

एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो

हैमवतक-हारिवर्षकदैवकुरवकाः॥२९॥

अर्थ – हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की आयु एक पल्य की है । हरि वर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की आयु दो पल्य की है । और देवकुरु के मनुष्यों की आयु तीन पल्य की है ।

विशेषार्थ – इन तीनों क्षेत्रों में सदा भोगभूमि रहती है । भोगभूमि

के मनुष्य सदा युवा रहते हैं। उन्हें कोई रोग नहीं होता और न मरते समय कोई वेदना ही होती है। बस पुरुष को जंभाई और स्त्री को छींक आती है और उसी से उनका मरण हो जाता है। मरण होने पर उनका शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है। भोगभूमि में न पुण्य होता है और न पाप। हाँ, किन्ही किन्हीं को सम्यक्त्व अवश्य होता है। मरण होने पर सम्यग्दृष्टि तो सौधर्म या ईशान स्वर्ग में देव होते हैं और मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक में जन्म लेते हैं। वहाँ के पशु भी मरकर देव होते हैं। उनमें परस्पर में ईर्षा द्वेष नहीं होता। सूर्य की गर्मी पृथ्वी तक न आ सकने के कारण वर्षा भी नहीं होती। कल्पवृक्षों के द्वारा प्राप्त वस्तुओं से ही मनुष्य अपना जीवन निर्वाह सानन्द करते हैं। वहाँ न कोई स्वामी है और न सेवक, न कोई राजा है और न प्रजा। प्राकृतिक साम्यवाद का सुख सभी भोगते हैं ॥२९॥

अब उत्तर जम्बुद्वीप के क्षेत्रों की स्थिति बतलाते हैं-

तथोत्तराः ॥३०॥

अर्थ – दक्षिण जम्बूद्वीप के क्षेत्रों की जैसी स्थिति है वैसी ही उत्तर जम्बूद्वीप के क्षेत्रों की जाननी चाहिये। अर्थात् हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों के समान है। रम्यक क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों के समान है। और उत्तर कुरू के मनुष्यों की स्थिति देवकुरू के मनुष्यों के समान है ॥ ३० ॥

आगे विदेह क्षेत्र की स्थिति बतलाते है-

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

अर्थ – पाँचों मेरु सम्बन्धी पाँच विदेह क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

विशेषार्थ – पाँचों विदेहों में सदा सुषमा-दुषमा काल की सी दशा रहती है। मनुष्यें के शरीर की ऊँचाई अधिक से अधिक पाँच सौ धनुष

होती है। प्रतिदिन भोजन करते हैं। उत्कृष्ट आयु एक कोटी पूर्व की है और जघन्य आयु अन्तर्मुहुर्त की है। पूर्वका प्रमाण इस प्रकार कहा है- चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वांङ्ग का एक पूर्व होता है। अतः चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर ७०५६०००००००००० संख्या आती है, इतने वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे एक कोटिपूर्व की आयु कर्म भूमि में होती है ॥ ३१ ॥

आगे दूसरी तरह से भरत क्षेत्र का विस्तार बतलाते हैं-

भरतस्य विष्कम्भो जम्बुद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थ – जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। उसमें एक सौ नब्बे का भाग देने पर एक भाग प्रमाण भरत क्षेत्र का विस्तार है। जो पहले बतलाया है।

विशेषार्थ – पहले भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही ६/१९ योजन बतलाया है। सो जम्बूद्वीप के एक लाख योजन विस्तार का एक सौ नब्बेवाँ भाग है। क्यों कि जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों और छह पर्वतों में बँटा हुआ है। उसमें भरत का एक भाग, हिमवान् के दो भाग, हैमवतके चार भाग, महाहिमवान् के आठ भाग, हरिवर्ष के सोलह भाग, निषध पर्वत के बत्तीस भाग, विदेहके चौसठभाग, नील पर्वत के बत्तीसभाग, रम्यक के सोलह भाग, रुक्मि पर्वत के आठ भाग, हैरण्यवत क्षेत्र के चार भाग, शिखरी पर्वत के दो भाग और ऐरावतका एक भाग है। इन सब भागों का जोड़ १९० होता है। इस तरह जम्बूद्वीप का वर्णन समाप्त हुआ। जम्बुद्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र है उसका विस्तार सर्व ओर दो लाख योजन है। लवण समुद्र को घेरे हुए धातकी खण्ड नाम का द्वीप है। उसका विस्तार सब ओर चार लाख योजन है ॥ ३२ ॥

आगे धातकी खण्ड द्वीप की रचना बतलाते हैं-

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

अर्थ – धातकी खण्ड द्वीप में भरत आदि क्षेत्र दो-दो हैं।

विशेषार्थ – धातकी खण्ड की दक्षिण दिशा और उत्तर दिशा में दो इष्वाकार पर्वत हैं। वे दोनों पर्वत इषु यानी बाण की तरह सीधे और दक्षिण से उत्तर तक लम्बे हैं। उनकी लम्बाई द्वीप के बराबर यानी चार लाख योजन है। इसीसे वे एक ओर लवण समुद्र को छूते हैं तो दूसरी ओर कालोदधि समुद्र को छूते हैं। उनके कारण धातकी खण्ड के दो भाग हो गये हैं- एक पूर्व भाग, दूसरा पश्चिम भाग। दोनों भागों के बीच में एक-एक मेरूपर्वत है। और उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवान आदि पर्वत हैं। इस तरह वहाँ दो भरत, दो हिमवान आदि हैं। उनकी रचना गाड़ी के पहिये की तरह है। जैस गाड़ी के पहिये में जो डंडे लगे रहते है जिन्हें अर कहते हैं, उनके समान तो हिमवान् आदि पर्वत हैं। वे पर्वत सर्वत्र समान विस्तार वाले हैं। और अरों के बीच में जो खाली स्थान होता है उसके समान भरत आदि क्षेत्र हैं। क्षेत्र कालोदधि के पास में अधिक चौड़े हैं और लवण समुद्र के पास में कम चौड़े हैं। जम्बूद्वीप में जिस स्थानपर जामुन का पार्थिव वृक्ष है धातकी खण्ड में उसी स्थान पर धातकी (धतूरा) का एक विशाल पार्थिव वृक्ष है। उसके कारण द्वीपका नाम धातकी खण्ड पड़ा है। धातकी खण्ड को घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। उसका विस्तार आठ लाख योजन है। और कालोदधि को घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है। उसका विस्तार सोलह लाख योजन है॥ ३३ ॥

आगे पुष्करवर द्वीप का वर्णन करते हैं-

पुष्करार्धे च ॥३४॥

अर्थ – आधे पुष्करवर द्वीप में भी भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवान आदि पर्वत दो-दो हैं।

विशेषार्थ – पुष्करवर द्वीप के बीच में चूड़ी के आकार का एक मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है, उसके कारण द्वीप के दो भाग हो गये हैं।

इसीसे आधे पुष्करवर द्वीप में ही भरत आदि की रचना बतलायी है। पुष्करार्ध में भी दक्षिण और उत्तर दिशा में दो इष्वाकार पर्वत हैं, जो एक ओर कालोदधि को छूते हैं तो दूसरी ओर मानुषोत्तर पर्वत को छूते हैं। इससे द्वीप के दो भाग हो गये हैं- एक पूर्व पुष्करार्ध और दूसरा पश्चिम पुष्करार्ध। दोनों भागों के बीच में एक-एक मेरु पर्वत है। और उनके दोनों और भरत आदि क्षेत्र व पर्वत हैं। जहाँ जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है, वहीं पुष्करार्ध में परिवार सहित पुष्कर वृक्ष है। उसी से द्वीप का नाम पुष्कर द्वीप पड़ा है ॥३४ ॥

अब बतलाते हैं कि भरत आदि क्षेत्रों की रचना आधे ही पुष्कर द्वीप में क्यों हैं? समस्त पुष्कर द्वीप में क्यों नहीं है?

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्यां ॥३५॥

अर्थ – मानुषोत्तर पर्वत से पहले ही मनुष्य पाये जाते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और आधे पुष्कर द्वीप पर्यन्त ही मनुष्यों का आवास है। इन अढ़ाई द्वीपों से बाहर कोई भी ऋद्धिधारी या विद्याधर मनुष्य तक नहीं जा सकता। इसीसे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर के द्वीपों में क्षेत्र वगैरह की रचना भी नहीं पायी जाती है॥ ३५ ॥

आगे मनुष्यों के दो भेद बतलाते हैं-

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

अर्थ – मनुष्य दो प्रकार के हैं- आर्य और म्लेच्छ।

विशेषार्थ – आर्य मनुष्य भी दो प्रकार के हैं- एक ऋद्धिधारी और दूसरे बिना ऋद्धिवाले। जो आठ प्रकार की ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धि के धारी होते हैं उन्हें ऋद्धि प्राप्त आर्य कहते हैं। जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं है वे बिना ऋद्धिवाले आर्य कहलाते हैं। बिना ऋद्धिवाले आर्य पाँच प्रकार के होते हैं- क्षेत्रआर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र

आर्य और दर्शन आर्य। काशी-कोशल आदि आर्य क्षेत्रों में जन्म लेनेवाले मनुष्य क्षेत्र-आर्य हैं। इक्ष्वाकु, भोज आदि वंशों में जन्म लेनेवाले मनुष्य जाति आर्य हैं। कर्म आर्य तीन प्रकार के होते हैं -सावद्य-कर्म-आर्य, अल्प सावद्य-कर्म-आर्य और असावद्य कर्म आर्य। सावद्य कर्म आर्य छह प्रकार के होते हैं। जो तलवार आदि अस्त्र- शस्त्र के द्वारा रक्षा अथवा युद्ध आदि करने की जीविका करते हैं वे असिकर्म आर्य हैं। जो आय व्यय आदि लिखने की आजीविका करते हैं वे मसिकर्म आर्य हैं। जो खेती के द्वारा आजीविका करते हैं वे कृषिकर्म आर्य हैं। जो विविध कलाओं मे प्रवीण हैं और उनसे ही आजीविका करते हैं वे विद्याकर्म आर्य हैं। धोबी, नाई, कुम्हार, लुहार, सुनार वगैरह शिल्प-कर्म-आर्य हैं। वणिज व्यापार करनेवाले वणिक -कर्म-आर्य हैं। उनमें जो अणुव्रती श्रावक होते हैं वे अल्प सावद्य कर्मार्य होते हैं और पूर्ण संयमी साधु असावद्य कर्मार्य होते हैं। चारित्र आर्य दो प्रकार के होते हैं - एक, जो बिना उपदेश के स्वयं ही चारित्र का पालन करते हैं और दूसरे, जो पर के उपदेश से चारित्र का पालन करते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शन आर्य हैं। ऋद्धि प्राप्त आर्यो के भी आठ प्रकार की ऋद्धियों के अवान्तर भेदों की अपेक्षा से बहुत से भेद हैं जो विस्तार के भय से यहाँ नही लिखे हैं।

म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं - अन्तर्द्वीपज और कर्म-भूमिज। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र के भीतर जो छ्यानवे द्वीप हैं उनके वासी मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। उनकी आकृति आहार-विहार सब असंस्कृत होता है। तथा म्लेच्छ खण्डों के अधिवासी मनुष्य कर्म भूमिज म्लेच्छ कहे जाते हैं। आर्य खण्ड में भी जो भील आदि जंगली जातियाँ बसती है वें भी म्लेच्छ ही हैं॥ ३६ ॥

अब कर्म भूमियाँ बतलाते हैं-

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र
देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अर्थ - पाँचों मेरु सम्बन्धी पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरू तथा उत्तरकुरू के सिवा शेष पाँच विदेह, ये पन्द्रह कर्म भूमियाँ हैं। पाँचो मेरु सम्बन्धी पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच हैरण्यवत, पाँच देवकुरू और पाँच उत्तरकुरू, ये तीस भोग भूमियाँ हैं। इनमें दस उत्कृष्ट भोगभूमि हैं, दस मध्यम हैं और दस जधन्य हैं। इनमें दस प्रकार के कल्पवृक्षों के द्वारा प्राप्त भोगों का ही प्राधान्य होने से इन्हें भोगभूमि कहते हैं। भरतादिक पन्द्रह क्षेत्रों में बड़े से बड़ा पाप कर्म और बड़े से बड़ा पुण्य कर्म अर्जित किया जा सकता है, जिससे जीव मर कर सातवें नरक में और सर्वार्थ-सिद्धि मे भी जा सकता है। तथा इन क्षेत्रों में षट् कर्मो के द्वारा आजीविका की जाती है। इसलिए कर्म की प्रधानता होने से इन्हें कर्मभूमि कहते हैं॥ ३७॥

आगे मनुष्यो की आयु बतलाते हैं-

नृस्थिति परा वरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहुर्ते ॥३८॥

अर्थ -मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है और जधन्य अन्तमुहुर्त की है।

विशेषार्थ - प्रमाण दो प्रकार का होता है- एक संख्या रूप दूसरा उपमा रूप। जिसका आधार एक, दो आदि, संख्या होती है उसे संख्या प्रमाण कहते हैं और जो संख्या के द्वारा न गिना जा कर किसी उपमा के द्वारा आंका जाता है उसे उपमाप्रमाण कहते हैं। उसीका एक भेद पल्य है। पल्य गड्ढे को कहते हैं। उसके तीन भेद हैं- व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य, अद्धापल्य। एक योजन लम्बा चौड़ा और एक योजन गहरा गोल गड्ढा खोदो। एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्मे हुए भेड़ के बालो के अग्रभागों को कैंची से इतना बारीक काटो कि फिर उन्हें काट सकना संभव न हो। उन बाल के टुकड़ों से उस गड़ढे को खूब ठूँसकर मुंह तक भर दो। उसे व्यवहार पल्य कहते हैं। इस व्यवहार पल्य रोमों मे से सौ-

सौ वर्ष के बाद एक एक रोम निकालने पर जितने काल में वह गड्ढ़ा रोमों से खाली हो जाये, उतने काल को व्यवहार पल्योपम काल कहते हैं। व्यवहार पल्य के रोमों में से प्रत्येक रोम के बुद्धि के द्वारा इतने टुकड़े करो जितने असंख्यात कोटि वर्ष के समय होते हैं। फिर उन रोमों से एक योजन लम्बे चौड़े और एक योजन गहरे गोल गड्ढ़े को भर दो । उसे उद्धार पल्य कहते हैं। उनमें से प्रति समय एक एक रोम के निकालने पर जितने काल में वह गड्ढ़ा रोमों से शून्य हो जाये उतने काल को उद्धार पल्योपम कहते हैं। उद्धार पल्य रोमों में से प्रत्येक रोम के कल्पना के द्वारा पुनः इतने टुकड़े करो जितने सो वर्ष के समय होते हैं। और उन रोमो से पुनः उक्त विस्तारवाले गड्ढ़े को भर दो। उसे अद्धा पल्य कहते हैं। उस अद्धा पल्य के रोमों में से प्रति समय एक-एक रोम निकालने पर जितने काल में वह गड्ढ़ा खाली हो उतने काल को अद्धा पल्योपम कहते हैं। इन तीन पल्यों में से पहला व्यवहार पल्य तो केवल दो पल्यों के निर्माण का मूल है, उसी के आधार पर उद्धार पल्य और अद्धा पल्य बनते हैं। इसीसे उसे व्यवहार पल्य नाम दिया गया है। उद्धार पल्य के रोमों के द्वारा द्वीप और समुद्रो की संख्या जानी जाती है। अद्धा पल्य द्वारा नारकियों की , तिर्यञ्चों की, देवों और मनुष्यों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है। इसी से इसे अद्धापल्य कहते है, क्योकि 'अद्धा' नाम काल का है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य का एक अद्धा सागर होता है। दस अद्धासागर का एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल होता है ॥ ३८ ॥

अब तिर्यञ्चों की स्थिति बतलाते हैं-

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

अर्थ – तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त है।

विशेषार्थ – तिर्यञ्च तीन प्रकार के होते हैं- एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय

और पञ्चेन्द्रिय। एकेन्द्रियों मे शुद्ध पृथ्वी कायिक जीवों की आयु बारह हजार वर्ष होती है। खर पृथ्वि काय की आयु बाईस हजार वर्ष होती है। जलकायिक जीवों की आयु सात हजार वर्ष, वायु कायकी तीन हजार वर्ष और वनस्पति काय की दस हजार वर्ष उत्कृष्ट आयु होती है। अग्नि कायिक की आयु तीन दिन रात होती है। विक्लेन्द्रियों में , दो इन्द्रियों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष, तेइन्द्रियों की उनचास रातदिन और चौइन्द्रियों की छह मास होती है। पञ्चेन्द्रियों में जलचर जीवों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि, गोधा नकुल वगैरह की नौ पूर्वाङ्ग, सर्पो की बयालीस हजार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष और चौपायों की तीन पल्य होती है। तथा सभी की जधन्य आयु एक अन्तर्मुहुर्त की होती है ॥ ३९ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

उपाध्याय परमेष्ठी का देवगढ़ में स्थित एक प्राचीन शिल्प

चतुर्थ अध्याय

अब देवों का वर्णन करते हैं-

देवाश्चतुर्णिकाया: ।।१।।

अर्थ – निकाय समूह को कहते हैं। देवों के चार निकाय यानी समूह हैं-भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक ॥ १ ॥

देवो की लेश्या बतलाते हैं-

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या: ।।२।।

अर्थ – भवनवासी , व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायों में कृष्ण, नील, कापोत और पीत, ये चार लेश्याएँ होती हैं ॥ २ ॥

इन निकायों के अवान्तर भेद बतलाते हैं-

दशाष्ट-पञ्च-द्वादशविकल्पा: कल्पोपन्नपर्यन्ता: ।।३।।

अर्थ – भवनवासी देवों के दस भेद हैं, व्यन्तरों के आठ भेद हैं, ज्योतिषी देवो के पाँच भेद हैं और वैमानिक देवों में से जो कल्पोपन्न अर्थात् सोलह स्वर्गो के वासी देव हैं, उनके बारह भेद हैं ॥ ३ ॥

देवो के विषयों में और भी कहते हैं-

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्-आत्मरक्ष
लोकपाला-नीक-प्रकीर्णकाभियोग्य
किल्विषिकाश्चैकश: ।।४।।

अर्थ – देवों की प्रत्येक निकाय में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दस-दस भेद होते हैं।

विशेषार्थ – अन्य देवों में न पायी जानेवाली अणिमा आदि ऋद्धियों के द्वारा जो परम ऐश्वर्य को भोगता है, देवों के उस स्वामी को इन्द्र कहते हैं। जिनकी आयु, शक्ति, परिवार, तथा भोगपभोग वगैरह इन्द्र के समान ही होते हैं, किन्तु जो आज्ञा और ऐश्वर्य से हीन होते हैं उन्हें सामानिक कहते हैं। ये पिता, गुरु या उपाध्याय के समान माने जाते हैं। मंत्री और पुरोहित के समान जो देव होते हैं, उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस होती है इसीसे इन्हें 'त्रायस्त्रिंश' कहा जाता है। इन्द्र की सभा के सदस्य देवों को पारिषद् कहते हैं। इन्द्र की सभा मे जो देव शस्त्र लिए इन्द्र के पीछे खड़े होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। यद्यपि इन्द्र को किसी शत्रु का भय नहीं है फिर भी यह ऐश्वर्य का द्योतक है। कोतवाल के तुल्य देवो को लोकपाल कहते हैं। पैदल, अश्व, वृषभ, रथ, हाथी, गन्धर्व, और नर्तकी इस सात प्रकार की सेना के देव अनीक कहे जाते हैं। पुरवासी या देशवासी जनता के समान देवों को प्रकीर्णक (प्रजाजन) कहते हैं। हाथी, घोड़ा, सवारी वगैरह बन कर जो देव दास के समान सेवा करते हैं उन्हें आभियोग्य कहते हैं। चाण्डाल की तरह दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं। ये दस भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं ॥ ४ ॥

उक्त कथन मे थोड़ा अपवाद है, जो बतलाते हैं-

त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का: ।।५।।

अर्थ – व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं ॥ ५ ॥

अब इन्द्र का नियम बतलाते हैं-

पूर्वयोर्द्वीन्द्रा: ।।६।।

अर्थ – पहले की दो निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं। अर्थात् दस प्रकार के भवनवासियों के बीस इन्द्र हैं और आठ प्रकार के व्यन्तरों के

सोलह इन्द्र हैं। इस तरह प्रत्येक निकाय के प्रत्येक भेद मे दो-दो इन्द्र होते हैं ॥ ६ ॥

देवों के काम सेवन का ढंग बतलाते हैं-

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

अर्थ - मैथुन सेवन का नाम प्रवीचार है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, देव और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवांगनाओं के साथ मनुष्य की तरह शरीर से मैथुन सेवन करते हैं ॥ ७ ॥

शेष स्वर्गों के देवो के विषय में कहते हैं-

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः ॥८॥

अर्थ - शेष स्वर्गों के देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से ही मैथुन सेवन करते हैं। अर्थात् सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों के आलिंगन मात्र से ही परम सन्तुष्ट हो जाते हैं। यही बात देवियों की भी है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों के सुन्दर रूप, श्रृंगार, विलास वगैरह के देखने मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों के मधुर गीत, कोमल हास्य, मीठे वचन तथा आभूषणों का शब्द सुनने से ही तृप्त हो जाते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों का मन मे चिन्तन कर लेने से ही शान्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥

सोलह स्वर्गो से ऊपर के देवों मे किस प्रकार का सुख है, यह बतलाते हैं-

परेऽप्रवीचारा : ॥९॥

अर्थ - यहाँ 'पर ' शब्द से समस्त कल्पातीत देवों का ग्रहण किया गया है। अतः अच्युत स्वर्ग से ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच

अनुत्तरों में रहने वाले अहमिन्द्र देवों में काम सेवन नहीं है क्योकि वहाँ देवांगनाएँ नहीं होती। अतः काम भोगरूप वेदना के न होने से ऊपर के देव परम सुखी हैं ॥९॥

अब भवनवासी देवों के दस भेद बतलाते हैं-

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत-सुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ॥१०॥

अर्थ - जो देव भवनों में निवास करते हैं, उन्हें भवनवासी कहते हैं। भवनवासी देव दस प्रकार के होते हैं-असुर कुमार, नागकुमार, विद्युत कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार और दीक्कुमार।

विशेषार्थ - यद्यपि सभी देवों की जन्म से लेकर मरण तक एक सी अवस्था रहती है। अतः अवस्था से सभी कुमार हैं। किन्तु भवनवासी देवों की वेशभूषा, अस्त्र-शस्त्र, बात-चीत, खेलना-कूदना वगैरह कुमारों की तरह ही होता है, इसलिए इनको कुमार कहते हैं। उक्त रत्नप्रभा पृथ्वी के पङ्क बहुल भाग में असुर कुमारों के भवन बने हुए हैं, और उसी के खर भाग में बाकी के नौ कुमारो के भवन हैं। उन्हीं में ये रहते हैं। इसी से इन्हें भवनवासी कहते हैं ॥ १० ॥

अब व्यन्तर देवों के आठ भेद बतलाते हैं-

व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गंधर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥११॥

अर्थ - अनेक स्थानों पर जिनका निवास है उन देवों को व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तरों के आठ भेद हैं-किन्नर, किम्पुरूष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

विशेषार्थ - वैसे तो उक्त रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में राक्षसों के

सिवा शेष सात प्रकार के व्यन्तरों का आवास है और पंक बहुल भाग में राक्षसों का आवास है किन्तु पृथ्वी के ऊपर द्वीप, पर्वत समुद्र, गाँव नगर, देवालय, चौराहे वगैरह में भी इनका स्थान बतलाया है। इसीसे विविध स्थानों के निवासी होने के कारण उन्हें व्यन्तर कहते हैं ॥ ११ ॥

अब ज्योतिष्क देवों के भेद कहते हैं-

ज्योतिष्का: सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२॥

अर्थ – ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के होते हैं-सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और सर्वत्र फैले हुए तारे। चूँकि ये सब चमकीले होते हैं इसलिए इन्हें ज्योतिष्क कहते हैं।

विशेषार्थ – सूर्य और चन्द्रमा का प्राधान्य बतलाने के लिए उन्हें सूत्र में अलग रखा गया है, क्योकि ग्रह वगैरह से उनका प्रभाव वगैरह अधिक है। इनमें चन्द्रमा इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। ये सब ज्योतिष्क देव मध्यलोक मे रहते हैं। धरातल से सात सौ नब्बे योजन ऊ पर तारे विचरण करते हैं। वे सब ज्योतिष्क देवों के नीचे हैं। तारों से दस योजन ऊ पर सूर्य का विमान है। सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा है। नक्षत्रों से चार योजन ऊ पर बुध का विमान है। बुध से तीन योजन ऊ पर शुक्र का विमान हैं। शुक्र से तीन योजन ऊपर बृहस्पति है। बृहस्पति से तीन योजन ऊ पर मंगल है और मंगल से तीन योजन ऊ पर शनैश्चर है। इस तरह एक सौ दस योजन की मोटाई में सब ज्योतिषी देव रहते हैं तथा तिर्यक् रुप से ये घनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं॥ १२ ॥

ज्योतिष्क देवों का गमन बतलाते हैं-

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

अर्थ – ज्योतिषी देव मनुष्य लोक में मेरु की प्रदक्षिणा रुप से सदा

गमन करते रहते हैं।

विशेषार्थ – अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों को मनुष्य लोक कहते हैं। मनुष्य लोक के ज्योतिषी देव मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रह कर उसके चारों और सदा घूमते रहते हैं। जम्बूद्वीप में दो, लवण समुद्र में चार, धातकी खंड में बारह, कालोदधि में बयालीस और पुष्करार्ध में बहत्तर चन्द्रमा हैं। एक चन्द्रमा के परिवार में एक सूर्य,अठासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र, और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ा कोड़ी तारे होते हैं ॥ १३ ॥

ज्योतिषी देवों के गमन से ही कालका व्यवहार होता है यह बतलाते हैं-

तत्कृत: कालविभाग: ॥१४॥

अर्थ – उन ज्योतिषी देवों के गमन से कालका विभाग होता है।

विशेषार्थ – काल दो प्रकार का है - व्यवहार काल और निश्चय काल। सैकिंड, मिनिट, घड़ी, मूहुर्त, दिन, रात, पक्ष, मास,वगैरह को व्यवहार काल कहते हैं। यह व्यवहार काल सूर्य चंद्रमाकी गति से ही जाना जाता है तथा इसी से निश्चयकाल का बोध होता है, जिसका वर्णन आगे पाँचवे अध्याय मे किया है ॥ १४ ॥

मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति बतलाते हैं-

बहिरवस्थिता: ॥१५॥

अर्थ – -मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देव अवस्थित हैं-गमन नही करते हैं।

शंका – मनुष्य लोक में ज्योतिषी देवों का नित्य गमन बतलाने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि बाहर के ज्योतिषी देव गमन नहीं करते। फिर इस बात को बतलाने के लिए 'बहिरवस्थिता:' सूत्र बनाना व्यर्थ है।

समाधान – यह सूत्र व्यर्थ नहीं है , क्योंकि मनुष्यलोक से बाहर ज्योतिषी देवों का अस्तित्व ही अभी सिद्ध नहीं है। अत: मनुष्यलोक से

बाहर भी ज्योतिषी देव हैं और वे चलते नहीं हैं ये दोनों बातें बतलाने के लिए ही 'बहिरवस्थिता:' सूत्र कहा है ॥ १५ ॥

तीन निकायों का वर्णन करके अब चौथी निकाय का वर्णन करते हैं-

वैमानिका : ॥१६॥

अर्थ – जिनमें रहनेवाले जीव विशेष रूप से पुण्यशाली माने जाते हैं उन्हें विमान कहते हैं। और विमानो में जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हे वैमानिक कहते हैं।

विशेषार्थ – यह सूत्र अधिकार सूचक है। यह बतलाता है कि आगे वैमानिक देवों का वर्णन किया जायेगा। विमान तीन प्रकार के होते हैं – इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक। जो विमान इन्द्र की तरह अन्य विमानों के बीच में रहता है उसे इन्द्रक विमान कहते हैं। उसकी चारों दिशओं में कतारबद्ध जो विमान होते हैं वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं और विदिशाओं में जहाँ तहाँ बिखरे फूलों की तरह जो विमान होते हैं उन्हें पुष्प प्रकीर्णक विमान कहते हैं ॥१६॥

आगे वैमानिक देवों के भेद कहते हैं-

कल्पोपपन्ना: कल्पातीताश्च ॥१७॥

अर्थ – वैमानिक देवों के दो भेद हैं-कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जहाँ इन्द्र आदि की कल्पना होती है उन सोलह स्वर्गो को कल्प कहते हैं और जहाँ इन्द्र आदि की कल्पना नही होती, उन ग्रैवेयक वगैरह को कल्पातीत कहते हैं ॥१७॥

इनकी अवस्थिति बतलाते हैं-

उपर्युपरि ॥१८॥

अर्थ – ये कल्प आदि ऊपर ऊपर हैं ॥१८॥

अब उन कल्प आदि का नाम बतलाते हैं जिनमें वैमानिक देव रहते हैं-

सौधर्मेशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर- लान्तव-कापिष्ठ शुक्र-महाशुक्र शतार-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयो-र्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय -वैजयन्त-जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थ – सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र , महाशुक्र , शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, इन सोलह स्वर्गों में, इनके ऊपर नौ ग्रैवेयकों में, नौ अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

विशेषार्थ – भूमितल से निन्यावे हजार चालीस योजन ऊपर जाने पर सौधर्म और ऐशान कल्प आरम्भ होता है। उसके प्रथम इन्द्रक विमान का नाम ऋतु है। वह ऋतु विमान सुमेरु पर्वत के ठीक ऊ पर एक बाल के अग्रभाग का अन्तराल देकर ठहरा हुआ है। उसका विस्तार ढाई द्वीप के बराबर पैंतालीस लाख योजन है। उसकी चारों दिशाओं में बासठ-बासठ पंक्ति बद्ध विमान हैं और विदिशाओं में बहुत से प्रकीर्णक विमान हैं। उसके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल देकर दूसरा पटल है। उसमें भी बीच में एक इन्द्रक विमान है । उसकी चारों दिशाओं में इकसठ- इकसठ श्रेणीबद्ध विमान हैं और विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। इस तरह असंख्यात असंख्यात योजन का अन्तराल देकर डेढ़ राजु की ऊँचाई में इकत्तीस पटल हैं। इन इकत्तीस पटलों के पूरब, पश्चिम, और दक्षिण दिशा के श्रेणी बद्ध विमान तथा इन्द्रक और पूरब दक्षिण दिशा के और दक्षिण पश्चिम दिशा के श्रेणीबद्धों के बीच में जो प्रकीर्णक हैं वे

सौधर्म स्वर्ग मे गिने जाते हैं। उत्तर दिशा के श्रेणीबद्ध तथा पश्चिम-उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशा के श्रेणीबद्धों के बीच के प्रकीर्णक ऐशान स्वर्ग में गिने जाते हैं। इकत्तीसवें पटल से ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल देकर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प प्रारम्भ हो जाते हैं। उनके सात पटल हैं जो डेढ़ राजु की ऊँचाई में हैं। यहाँ भी तीन दिशाओं की गिनती सानत्कुमार स्वर्ग में और उत्तर दिशा की गिनती माहेन्द्र कल्प में की जाती है। इसी तरह ऊपर के छह कल्प युगलों मे भी समझ लेना चाहिये। ये युगल ऊपर ऊपर आधे आधे राजु की ऊँचाई मे हैं। इस तरह छह राजू की ऊँचाई में सोलह स्वर्ग हैं उनके ऊपर एक राजु की ऊँचाई में नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर ऊ पर ऊपर हैं। इन सब के मिलाकर कुल त्रेसठ पटल हैं।

सोलह स्वर्गों के बारह इन्द्र हैं- प्रारम्भ के और अन्त के चार स्वर्गों में तो प्रत्येक में एक एक इन्द्र है। और बीच के आठ स्वर्गो में दो-दो स्वर्गो का एक- एक इन्द्र है। इस तरह सब इन्द्र बारह हैं। इनमे सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत और आरण ये छह दक्षिणेन्द्र हैं और ऐशान, माहेन्द्र, लान्तव, शतार, प्राणत और अच्युत ये छह उत्तरेन्द्र हैं॥१९॥

वैमानिक देवों में परस्पर में क्या विशेषता है यह बतलाते हैं-

स्थिति- प्रभाव-सुख-द्युति-
लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थ -वैमानिक देव स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियों का विषय तथा अवधिज्ञान का विषय, इन बातों में ऊपर ऊपर अधिक हैं।

विशेषार्थ - आयु कर्म के उदय से उसी भव मे रहना स्थिति है। दूसरों का बुरा भला करने की शक्ति को प्रभाव कहते हैं। साता वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों का भोगना सुख है। शरीर, वस्त्र और

आभूषणों वगैरह की चमक को द्युति कहते हैं। लेश्या की निर्मलता को लेश्या-विशुद्धि कहते हैं। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक कल्प के प्रत्येक पटल के वैमानिक देव इन बातों में अपने नीचे के देवों से अधिक हैं। तथा उनकी इन्द्रियों का और अवधि ज्ञान का विषय भी ऊपर अधिक अधिक है॥२०॥

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अर्थ - तथा वैमानिक देव गति, शरीर की ऊँचाई ,परिग्रह और अभिमान में ऊपर ऊपर हीन हैं।

विशेषार्थ - जो जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाती है उसे गति यानी गमन कहते हैं। लोभ कषाय के उदय से विषयों में जो ममत्व होता है उसका नाम परिग्रह है। मान कषाय से उत्पन्न होने वाले अहंकार का नाम अभिमान है। यद्यपि ऊपर- ऊपर के देवों में गमन करने की शक्ति अधिक अधिक है परन्तु देशान्तर में जाकर क्रीडा वगैरह करने की उत्कट लालसा नहीं है, इसलिए ऊपर ऊपर के देवों में देशान्तर गमन कम पाया जाता है। शरीर की ऊँचाई भी ऊपर ऊपर घटती गयी है। सौधर्म, ऐशान के देवों का शरीर सात हाथ ऊँचा है। सानत्कुमार माहेन्द्र में छ हाथ ऊँचा है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ में पाँच हाथ ऊँचा है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार में चार हाथ ऊँचा है। आनत प्राणत में साढ़े तीन हाथ और आरण अच्युत मे तीन हाथ ऊँचा है। अधो ग्रैवेयकों में अढ़ाई हाथ, मध्य ग्रैवेयकों में दो हाथ, और ऊ परिम ग्रैवेयकों में तथा नौ अनुदिशों में डेढ़ हाथ ऊँचा है। पाँच अनुत्तरों में एक हाथ ऊँचा शरीर है। विमान वगैरह परिग्रह भी ऊपर ऊपर कम है। कषाय की मन्दता होने से ऊपर ऊपर अभिमान भी कम है, क्योंकि जिनकी कषाय मन्द होती है वे ही जीव ऊपर ऊपर के कल्पों में जन्म लेते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है-असैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च अपने शुभ परिणामों से पुण्य कर्म का बन्ध करके भवनवासी और व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं। सैनी पर्याप्त कर्म

भूमिया तिर्यञ्च यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यदृष्टि हों तो भवनत्रिक में जन्म लेते हैं और यदि सम्यग्दृष्टि हो तो पहले या दूसरे स्वर्ग मे जन्म लेते हैं । कर्म भूमिया मनुष्य यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हो तो भवनवासी से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक जन्म ले सकते हैं । किन्तु जो द्रव्य से जिनलिंगी होते हैं वे ही मनुष्य ग्रैवेयक तक जा सकते हैं । तथा अभव्य मिथ्यादृष्टि भी जिनलिंग धारण करके तप के प्रभाव से उपरिम ग्रैवेयक तक मर कर जा सकता है । परिव्राजक तापसी मर कर पाँचवें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं । आजीवक सम्प्रदाय के साधु बारहवें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं । बारहवें स्वर्ग से ऊपर अन्य लिंगवाले साधु उतपन्न नहीं होते । निंग्रन्थ लिंग के धारक यदि द्रव्यलिंगी हों तो उपरिम ग्रैवेयक तक और भावलिंगी हो तो सर्वार्थसिद्धि तक जन्म ले सकते हैं । तथा श्रावक पहले से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक ही जन्म ले सकता है । इसी तरह जैसी जैसी कषाय की मन्दता होती है उसी के अनुसार ऊपर ऊपर के कल्पों में जन्म होता है । इसी से ऊपर के देव मंद कषायी होते हैं ॥२१॥

अब वैमानिक देवों की लेश्या बतलाते हैं-

पीत-पद्म-शुक्ल लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥२२॥

अर्थ – सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों में पीत लेश्या है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों में पीत और पद्म लेश्या है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग में पद्म लेश्या है । शुक्र , महाशुक्र , शतार और सहस्त्रार में पद्म और शुक्ल लेश्या है । शेष आनत आदि कल्पों में शुक्ल लेश्या है । उनमें भी अनुदिश और अनुत्तरो में परम सुक्त लेश्या है ॥२२॥

कल्प संज्ञा किसकी है यह बतलाते हैं-

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

अर्थ – सौधर्म से लेकर ग्रैवेयक से पहले अर्थात् सोलहवें स्वर्ग तक संज्ञा है; क्योकि जिनमें इन्द्र वगैरह की कल्पना पायी जाती है उन्हीं की कल्प संज्ञा है । अतः नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर कल्पातीत हैं ; क्योंकि अहमिन्द्र होने से उनमें इन्द्र आदि की कल्पना नहीं हैं ॥२३॥

अब लोकान्तिक देवों का कथन करते हैं-

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

अर्थ – ब्रह्मलोक नाम के पाँचवे स्वर्ग मे रहने वाले देव लौकान्तिक हैं । उनका लौकान्तिक नाम सार्थक है; क्योकि लोक यानी ब्रह्मलोक, उसके अंत मे जो रहते हैं वे लौकांतिक हैं । अभिप्राय यह है कि जिन विमानों में लौकांतिक रहते हैं वे विमान ब्रह्मलोक के अंत में हैं । अथवा लोक यानी संसार । उसका अंत जिनके आ गया है वे लोकांतिक देव हैं क्योकि लौकांतिक देव मर कर और एक जन्म ले कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥२४॥

लौकांतिक देवों के भेद बतलाते हैं-

सारस्वतादित्य-वह्नयरुण-गर्दतोय-
तुषिता- व्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

अर्थ – सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट, ये आठ प्रकार के लौकान्तिक देव हैं, जो ब्रह्मलोक स्वर्ग की पूर्वोत्तर आदि आठ दिशाओं में क्रम से रहते हैं, ये सभी स्वतंत्र हैं, किसी इन्द्र के आधीन नहीं हैं । सब समान हैं इनमे कोई छोटा और कोई बड़ा नहीं है । विषयों से विरक्त हैं इसी से इन्हे देवर्षि कहते हैं । अन्य देव इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं ये चौदह पूर्व के पाठी होते हैं और जब तीर्थंकरों को वैराग्य होता है तो उस समय उन्हें प्रतिबोधन करने के उदेश्य से उनके पास जाते हैं ॥२५॥

जो देव मनुष्य के दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं उन्हे बतलाते हैं-

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

अर्थ – यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है । अतः जो देव अहमिन्द्र होने के साथ साथ जन्म से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं उनका यहाँ आदि शब्द से ग्रहण किया है । इसलिए विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र देव मनुष्य के दो भव ले कर मोक्ष जाते हैं। अर्थात् विजयादिक से चय कर मनुष्य होते हैं । फिर संयम धारण करके पुनः विजय आदि में जन्म लेते हैं । फिर वहाँ से चय कर मनुष्य हो, मोक्ष प्राप्त करते हैं । इस तरह वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं; क्योकि मनुष्य भव से ही मोक्ष मिलता है इसलिए मनुष्य भव को चरम देह कहते हैं । जो दो बार चरम देह को धारक करते है वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं।

विशेषार्थ – यहाँ इतना विशेष जानना कि अनुदिश तथा चार अनुत्तरों के देव एक भव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं । यहाँ अधिक से अधिक दो भव बतलाये हैं इसी से सर्वार्थसिद्धि का ग्रहण यहाँ नही किया; क्योकि सर्वार्थसिद्धि के देव अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं । इसी से उनके विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि सार्थक है । वे एक ही भव धारण करके मोक्ष जाते हैं । त्रिलोकसार मे लिखा है कि ''सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकांतिक देव, सब दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोक पाल, इन्द्राणी शचि, ये सब एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष जाते हैं ''॥२६॥

तीन गतियों के जीवों का वर्णन करके तिर्यञ्चों की पहचान बतलाते हैं-

औपपादिक-मनुष्येभ्यःशेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अर्थ – उपपाद जन्म वाले देव नारकी और मनुष्यों के सिवाय बाकी जो संसारी जीव हैं सब तिर्यञ्च हैं । अतः एकेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च ही

हैं। वे समस्त लोक में पाये जाते हैं । इसीसे तिर्यञ्चों का कोई अलग लोक नही बतलाया है ॥२७॥

अब देवो की आयु बतलाते हुए प्रथम ही भवनवासी देवों की आयु बतलाते हैं-

स्थितिरसुरनाग- सुपर्ण-द्वीप- शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्द्ध हीनमिताः ॥२८॥

अर्थ – असुर कुमारों की आयु एक सागर है । नाग कुमारों की तीन पल्य है । सुपर्ण कुमारों की आयु अढ़ाई पल्य है । द्वीप कुमारों की आयु दो पल्य है और बाकी के छहों कुमारों की आयु डेढ़-डेढ़ पल्य है । यह इनकी उत्कृष्ट आयु है ॥२८॥

अब सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु बतलाते हैं-

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

अर्थ – सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवो की आयु दो सागर से कुछ अधिक है ।

विशेषार्थ – वैसे तो सौ धर्म और ऐशान स्वर्ग में दो सागर की ही उत्कृष्ट आयु है किन्तु घातायुष्क सम्यग्दृष्टि के दो सागर से करीब आधा सागर आयु अधिक होती है । आशय यह है कि जो मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि विशुद्ध परिणामों से ऊपर के स्वर्गों की आयु को बाँधकर पीछे संक्लेश परिणाम से आयु का घात कर लेता है उसे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहते हैं । जैसे किसी मनुष्य ने दसवें स्वर्ग की आयु बांधी । पीछे उसके संक्लेश परिणाम हो गये । अतः वह बंधी हुई आयु को घटाकर दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो उसके दूसरे देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर से अन्तमुहुर्त कम आधा सागर आयु अधिक होती है । ऐसे घातायुष्क जीव बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं । अतः कुछ अधिक आयु भी वहीं तक

बतलायी है आगे नही बतलायी ॥२९॥

क्रमशः आगे के स्वर्गो में आयु बतलाते हैं-

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अर्थ – सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर से अधिक है ॥३०॥

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

अर्थ – सात सागर में क्रम से तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह जोड़ देने से आगे के छह कल्प युगलों में देवों की उत्कृष्ट आयु होती है। तथा यहाँ जो "तु" शब्द दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि अधिक आयु की अनुवृत्ति बारहवें स्वर्ग तक ही लेना चाहिये, आगे नहीं। अतः यह अर्थ हुआ कि ब्रह्म ब्रह्मोत्तर में कुछ अधिक दश सागर उत्कृष्ट आयु है। लान्तव और कापिष्ट में कुछ अधिक चौदह सागर उत्कृष्ट आयु है। शुक्र महाशुक्र में कुछ अधिक सोलह सागर उत्कृष्ट आयु है। शतार सहस्त्रार में कुछ अधिक अट्ठारह सागर, आनत प्राणत में बीस सागर और आरण अच्युत में बाईस सागर उत्कृष्ट आयु है ॥३१॥

कल्पातीत देवों की आयु बतलाते हैं-

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥३२॥

अर्थ – आरण और अच्युत स्वर्ग के ऊपर नौ ग्रैवेयकों में एक एक सागर आयु बढ़ती जाती है। अतः पहले ग्रैवेयक में तेईस सागर की और अंतिम ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु है। उससे एक सागर अधिक यानी बत्तीस सागर की आयु अनुदिश विमानों में है। उससे एक सागर अधिक यानी तैंतीस सागर की आयु विजयादि विमानो में है और सर्वार्थसिद्धि में तैतीस सागर की ही आयु है उससे कम नहीं है ॥३२॥

अब वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु कह कर जधन्य आयु कहते हैं-

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अर्थ – सौधर्म और ऐशान स्वर्गो में देवों की जधन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है ॥३३॥

परतः परतः पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

अर्थ – नीचे- नीचे के स्वर्गों में जो उत्कृष्ट आयु है वही उसके ऊपर-ऊपर के स्वर्गों में जधन्य आयु है। अर्थात् सौधर्म, ऐशान में जो दो सागर से अधिक आयु है वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जधन्य आयु है। सानत्कुमार माहेन्द्र में जो सात सागर से अधिक उत्कृष्ट आयु है वही ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर मे जधन्य है। इसी तरह ऊपर के समस्त कल्पों में और कल्पातीतों में जानना चाहिये ॥३४॥

नारकियों की उत्कृष्ट आयु तो कह चुके किन्तु जधन्य आयु नहीं कही। अतः नारकियों का प्रकरण नही होने पर भी थोड़े में कहने के अभिप्राय से उनकी जधन्य आयु यहाँ कहते हैं-

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

दूसरी आदि पृथिवियों में भी जो ऊपर ऊपर उत्कृष्ट आयु है वही उसके नीचे की पृथिवियों की जधन्य आयु है। अर्थात् रत्नप्रभा एक सागर की उत्कृष्ट आयु है वहीं शर्कराप्रभा मे जधन्य आयु है। शर्कराप्रभा मे जो तीन सागर की उत्कृष्ट आयु है वही बालुकाप्रभा में जधन्य आयु है। इस तरह सातवें नरक तक जानना चाहिये ॥३५॥

पहली पृथिवी के नारकियों की जधन्य आयु कहते हैं-

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अर्थ – पहली पृथिवी के नारकियों की जधन्य आयु दस हजार

वर्ष है ॥३६॥

भवनवासी की जधन्य आयु कहते हैं -

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ – भवनवासी देवों की जधन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥३७॥

व्यन्तरों की भी जधन्य आयु कहते है-

व्यन्तराणां च ॥३८॥

अर्थ – व्यन्तर देवों की भी जधन्य आयु दस हजार वर्ष है ॥३८॥

व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु भी कहते हैं -

परापल्योपममधिकम् ॥३९॥

अर्थ – व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है ॥३९॥

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु कहते हैं -

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

अर्थ – ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है ॥४०॥

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु भी कहते हैं-

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

अर्थ – ज्योतिषी देवों की जधन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग है ॥४१॥

अन्त में लौकान्तिक देवों की आयु कहते हैं -

लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अर्थ – सब लौकान्तिक देवो की आयु आठ सागर है । ये सब शुक्ल लेश्या वाले होते हैं और इनके शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ होती है ॥४२॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्याय : ॥४॥

पंचम अध्याय

सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीव आदि सात तत्वों मे से जीव तत्व का कथन हो चुका । इस अध्याय में अजीव तत्व का कथन है ।

अतः अजीव के भेद गिनाते हैं-

अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः ॥१॥

अर्थ – धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार अजीव हैं और काय हैं ।

विशेषार्थ – वैसे द्रव्य तो छह हैं । उनमें पाँच द्रव्य अजीव हैं । केवल एक द्रव्य जीव है । तथा छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और एक काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है । अतः जीव द्रव्य कायरूप है किन्तु अजीव नही हैं और काल द्रव्य अजीव है किन्तु कायरूप नहीं है । इसलिए जीव और काल के सिवा शेष चार द्रव्य ही ऐसे हैं जो अजीव भी हैं और काय भी हैं । जिस द्रव्य में चैतन्य नहीं पाया जाता उसे अजीव कहते हैं और जो बहु प्रदेशी होता है उसे काय कहते हैं । ऐसे द्रव्य चार ही हैं-धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल । गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को जो गमन मे सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं । ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को जो ठहराने में सहायक होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं । समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में सहायक द्रव्य को आकाश कहते हैं । और जिसमे रूप, रस, गध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं॥१॥

अब इनकी संज्ञा बतलाते हैं-

द्रव्याणि ॥२॥

अर्थ – ये धर्म- अधर्म आदि द्रव्य हैं । जो त्रिकालवर्ती अपनी पर्यायों को प्राप्त करता है उसे द्रव्य कहते हैं । द्रव्य का लक्षण सूत्रकार ने आगे स्वयं कहा है ॥२॥

क्या जीव भी द्रव्य है ?-

जीवाश्च ।।३।।

अर्थ – जीव भी द्रव्य है। यहाँ 'जीवाः' बहुवचन दिया है। अतः जीव द्रव्य बहुत से हैं ऐसा समझना ॥३॥

अब इन द्रव्यों के बारे मे विशेष कथन करते हैं -

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।४।।

अर्थ – ये ऊपर कहे द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं।

विशेषार्थ – प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं –विशेष और सामान्य। जैसे धर्म द्रव्य का विशेष गुण तो गति में सहायक होना है और सामान्य गुण अस्तित्व है । इसीतरह सब द्रव्यों में सामान्य और विशेष गुण पाये जाते हैं । कभी भी द्रव्यों के इन गुणों का नाश नहीं होता। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है वह स्वभाव सदा रहता है। अतः सभी द्रव्य नित्य हैं। तथा इनकी संख्या भी निश्चित है। न तो ये छह से बढ़ कर सात होते हैं और न कभी छह से घट कर पाँच होते हैं सदा छह के छह हीं रहते हैं। इससे इन्हें अवस्थित कहा है । तथा इनमें रूप, रस, वगैरह नही पाया जाता । इसलिए ये अरूपी अर्थात् अमूर्तिक हैं ॥४॥

सब द्रव्यों को अरूपी कहने से पुदगल भी अरूपी ठहरता । अतः उसके निषेध के लिए सूत्र कहते हैं -

रूपिणः पुद्गलाः ।।५।।

अर्थ – पुदगल द्रव्य रूपी है ।

विशेषार्थ – यहाँ रूपी कहने से रूप के साथ साथ रहने वाले स्पर्श, रस, गंध को भी लेना चाहिये ; क्योंकि ये चारों गुण साथ ही रहते हैं। पुदगलाः शब्द बहुवचन है सो यह बतलाता है कि पुदगल द्रव्य भी बहुत हैं॥५॥

आगे बतलाते हैं कि जैसे जीव द्रव्य बहुत हैं, पुद्गल द्रव्य भी बहुत हैं वैसे धर्मादि द्रव्य बहुत नहीं हैं–

आ आकाशादेकद्रव्याणि ।।६।।

अर्थ – धर्म, अधर्म और आकाश एक एक द्रव्य हैं ।

विशेषार्थ – इन तीनों द्रव्यों को एक एक बतलाने से यह स्पष्ट है कि बाकी के द्रव्य अनेक हैं । जैन सिद्धांत में बतलाया है कि जीव द्रव्य अन्तानन्त हैं। क्योंकि प्रत्येक जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है। जीवों से अनन्त गुने पुदगल द्रव्य हैं, क्योकि एक एक जीव के उपभोग में अनन्त पुदगल द्रव्य हैं । काल द्रव्य असंख्यात हैं ; क्योंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित रहता है। तथा धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य एक एक हैं ॥६॥

क्रमशः इन एक-एक द्रव्यों के विषय में और अधिक कहते हैं-

निष्क्रियाणि च ।।७।।

अर्थ – धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य क्रिया रहित हैं, इनमें हलन चलन रूप क्रिया नही होती। अतः ये तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं।

शंका – जैन सिद्धान्त में माना है कि प्रत्येक द्रव्य मे प्रति समय उत्पाद, व्यय हुआ करता है। किन्तु यदि धर्म आदि निष्क्रिय हैं तो उन में उत्पाद नहीं हो सकता, क्योंकि कुम्हार मिट्टी को चाक पर रख कर जब घुमाता है तभी घड़े की उत्पति होती है। अतः बिना क्रिया के उत्पाद नहीं हो सकता और जब उत्पाद नहीं होगा तो व्यय (विनाश) भी नहीं होगा।

समाधान – धर्म आदि निष्क्रिय द्रव्यों में क्रिया पूर्वक उत्पाद नहीं होता किन्तु दूसरे प्रकार से उत्पाद होता है। उत्पाद दो प्रकार का माना है– एक स्व-निमित्तक दूसरा पर-निमित्तक । जैन आगम में अगुरुलघु नाम के अनन्त गुण माने गये हैं जो प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं । उन गुणों में छह

प्रकार की हानि या वृद्धि सदा होती रहती है। उसके निमित्त से द्रव्यों में स्वभाव से ही सदा उत्पाद-व्यय हुआ करता है। यह स्व-निमित्तक उत्पाद व्यय है। तथा धर्मादि द्रव्य प्रति समय अश्व आदि अनेक जीवों और पुदगलों के गमन में, ठहरने में और अवकाशदान में निमित्त होते हैं, प्रति क्षण गति वगैरह में परिवर्तन होता रहता है अतः उनके निमित्त से धर्मादि द्रव्यों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परनिमित्तक उत्पाद-व्यय है।

शंका - यदि धर्मादि द्रव्य स्वयं नहीं चलते तो वे दूसरों को चलाते कैसे हैं ? देखा जाता है कि जल वगैरह जब स्वयं बहते है तभी मछलियों वगैरह को चलने मे सहायक होते हैं।

समाधान - यह आपति उचित नहीं है। जैसे चक्षु रूप के देखने में सहायक है किन्तु यदि मनुष्य का मन दूसरी ओर लगा हो तो चक्षु रूप को देखने का आग्रह नही करती। इसी तरह धर्मादि द्रव्य भी चलने मे उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नहीं हैं, ॥७॥

'अजीवकायाः' सूत्र मे 'काय' पद देने से यह तो ज्ञात हो गया कि उक्त द्रव्य बहु द्रव्य बहु प्रदेशी है। किन्तु किसके कितने प्रदेश हैं यह ज्ञात नहीं हुआ। उसके बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं-

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

अर्थ- धर्मद्रव्य अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य इनमें से प्रत्येक के असंख्यात-असंख्यात प्रदेश होते हैं।

विशेषार्थ- जितने आकाश को पुदगल का एक परमाणु रोकता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तो निष्क्रिय हैं और समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। अतः लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में व्याप्त होने से वे दोनों असंख्यात, असंख्यात प्रदेशी हैं। जीव भी उतने ही प्रदेशी हैं किन्तु उसका स्वभाव सकुचने और फैलने का है। अतः नाम

कर्म के द्वारा उसे जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उतने में ही फैलकर रह जाता है। किन्तु जब केवलज्ञानी होकर वह लोकपूरण समुद्घात करता है तब वह भी धर्म-अधर्म द्रव्य की तरह समस्त लोकाकाश मे व्याप्त हो जाता है। अतः वह भी असंख्यात प्रदेशी ही है ॥८॥

आगे आकाश के प्रदेश बतलाते हैं-

आकाशस्यानन्ताः ॥९॥

अर्थ - आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। अर्थात यद्यपि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है किन्तु यदि उसे परमाणु के द्वारा मापा जाये तो वह अनन्त परमाणुओं के फैलाव के बराबर होता है। इससे उसे अनन्त प्रदेशी कहा है ॥९॥

पुदगलों के भी प्रदेश बतलाते हैं-

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अर्थ - यहाँ 'च' शब्द से अनन्त लेना चाहिए। अतः किसी पुद्गल द्रव्य के संख्यात प्रदेश हैं, किसी के असंख्यात हैं और किसी के अनन्त हैं। आशय है कि शुद्ध पुद्गल द्रव्य तो एक अविभागी परमाणु है। किन्तु परमाणुओं में बंधने और बिछड़ने की शक्ति है। अतः परमाणु के मेल से स्कंध बनता है, सो कोई स्कंध तो दो परमाणुओं के मेल से बनता है, कोई तीन के, कोई चार के, कोई संख्यात के कोई असंख्यात के और कोई अनन्त परमाणुओं के मेल से बनता है अतः कोई संख्यात प्रदेशी होता है, कोई असंख्यात प्रदेशी होता है और कोई अनन्त प्रदेशी होता है।

शंका - लोक तो असंख्यात प्रदेशी है उस में अनन्त प्रदेशी पुद्गल द्रव्य कैसे रहता है ?

समाधान - एक ओर तो पुद्गलों में सूक्ष्मरूप परिणमन करने की शक्ति है, दूसरी ओर आकाश मे अवगाहन शक्ति है। अतः सूक्ष्म रूप

पुद्गल एक एक आकाश के प्रदेश में बहुत से रह सकते हैं । फिर ऐसा कोई नियम नहीं है कि छोटे से आधार में बड़ा द्रव्य नहीं रह सकता । देखो, चम्पा के फूल की कली छोटी सी होती है । जब वह खिलती है तो उसकी गन्ध सब ओर फैल जाती है अत: लोकाकाश के असंखयात प्रदेशों में अन्तानन्त पुदगल द्रव्य रह सकते हैं॥१०॥

परमाणु के प्रदेशों के विषय कहते हैं-

नाणो: ॥११॥

अर्थ – परमाणु के प्रदेश नहीं होते ; क्योंकि परमाणु एक प्रदेशी ही है । जैसे आकाश के एक प्रदेश के और विभाग न हो सकने से वह अप्रदेशी है वैसे ही परमाणु भी एक प्रदेशी ही है अत: उसके दो तीन आदि प्रदेश नहीं होते । तथा पुद्गल के सब से छोटे अंश को जिसका दूसरा विभाग नही हो सकता, परमाणु कहते हैं । अत: परमाणु से छोटा यदि कोई द्रव्य होता तो उसके प्रदेश हो सकते थे किन्तु उससे छोटा कोई द्रव्य है नहीं । इससे परमाणु एक प्रदेशी ही है ।

धर्मादिक द्रव्य कहाँ रहते हैं, सो बतलाते हैं -

लोकाकाशेऽवगाह: ॥१२॥

अर्थ – धर्म आदि द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं । आशय यह है कि आकाश तो सर्वत्र है । उसके बीच के जितने भाग में धर्म आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं उतने भाग को लोकाकाश कहते हैं । और उसके बाहर सब ओर जो आकाश है उसे अलोकाकाश कहते हैं । धर्मादि द्रव्य लोकाकाश मे ही पाये जाते हैं, बाहर नहीं ।

शंका – यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार लोकाकाश है तो आकाश का आधार क्या है ?

समाधान – आाकाश का आधार अन्य कोई नहीं है वह अपने ही

आधार है ।

शंका – यदि आकाश अपने आधार से है तो धर्मादि द्रव्यों को भी अपने ही आधार पर होना चाहिये । यदि धर्मादि से द्रव्यों का आधार कोई अन्य द्रव्य है तो आकाश का भी दूसरा आधार होना चाहिये ?

समाधान – आकाश से बडा़ कोई द्रव्य नहीं है जिसके आधार आकाश रह सके । आकाश तो सब ओर अनन्त है उसका कहीं अन्त ही नहीं है । तथा निश्चय नय से सभी द्रव्य अपने आधार हैं कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य के आधार नहीं है । किन्तु व्यवहार नय से धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश को कहा जाता है, क्योकि धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नहीं पाये जाते ।

शंका –- लोक में जो पूर्वोत्तरकाल-भावी होते हैं उन्हीं में आधार-आधेयपना देखा जाता है। जैसे मकान पहले बन जाता है तो पीछे उसमें मनुष्य आकर बसते हैं । किन्तु इस तरह आकाश पहले से है और धर्मादि द्रव्य उसमें बाद को आये हैं ऐसी बात तो आप मानते नहीं। ऐसी स्थिति में व्यवहार नय से भी आधार-आधेयपना नहीं बन सकता?

समाधान – आपकी आपत्ति ठीक नहीं है । जो एक साथ होते हैं उनमें भी आधार आधेयपना देखा जाता है। जैसे शरीर और हाथ एक साथ ही बनते हैं फिर भी "शरीर में हाथ है" ऐसा कहा जाता है । इसी तरह यद्यपि सभी द्रव्य अनादि हैं फिर भी आकाश में धर्मादि द्रव्य है ऐसा व्यवहार होने में कोई दोष नहीं है॥१२॥

कौन द्रव्य कितने लोकाकाश में रहता है? यह बतलाते हैं-

धर्माधर्मयो: कृत्स्ने ॥१३॥

अर्थ – धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। अर्थात् जैसे मकान के एक कोने में घड़ा रखा रहता है उस तरह से धर्म-अधर्म द्रव्य लोकाकाश में नहीं रहते । किन्तु जैसे तिलों में सर्वत्र तेल पाया

जाता है वैसे ही दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाश में पाये जाते हैं ॥१३॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थ – पुद्गलों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश से लगाकर असंख्यात प्रदेशों में है अर्थात् एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश में रहता है। दो परमाणु यदि जुदे जुदे होते हैं तो दो प्रदेशों में रहते हैं और यदि परस्पर में बँधे हों तो एक प्रदेश में रहते हैं। इसी तरह संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में, अथवा संख्यात या असंख्यात प्रदेशों में रहते हैं। जैसा स्कन्ध होता है उसी के अनुसार स्थान में वह रहता है।

शंका – धर्म, अधर्म द्रव्य तो अमूर्तिक हैं, अतः वे एक जगह बिना किसी बाधा के रह सकते हैं। किन्तु पुद्गल द्रव्य तो मूर्तिक है अतः एक प्रदेश में अनेक मूर्तिक पुद्गल कैसे रह सकते हैं ?

समाधान – जैसे प्रकाश मूर्तिक है फिर भी एक घर में अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है वैसे ही सूक्ष्म परिणमन होने से लोकाकाश के एक प्रदेश में बहुत से पुद्गल परमाणु रह सकते हैं ॥१४॥

एक जीव कितनी जगह रोकता है यह बतलाते हैं-

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

अर्थ – लोक के असंख्यातवें भाग आदि में जीवों का अवगाह है। अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात भाग करने पर जो एक असंख्यातवाँ भाग होता है कम से कम उस एक असंख्यातवें भागमें एक जीव रहता है, क्योंकि सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया जीवकी होती है। सो वह जीव लोकके असंख्यातवें भाग स्थान को रोकता है। यदि जीव की अवगाहना बड़ी होती है तो वह लोक के दो, तीन चार आदि असंख्यातवें भागों में रहता है यहाँ तक कि सर्वलोक तक में व्याप्त हो जाता है।

शंका – यदि लोक के एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है तो अनन्तानन्त जीवराशि लोकाकाश में कैसे रह सकती है ?

समाधान – जीव दो प्रकार के होते हैं- सूक्ष्म और बादर। जिनका शरीर स्थूल होता है उन्हें बादर कहते हैं। बादर जीव एक जगह बहुत से नहीं रह सकते, किन्तु सूक्ष्म शरीर वाले जीव सूक्ष्म होने से जितनी जगह में एक निगोदिया जीव रहता है उतनी जगह में साधारण कायके रूप में अनन्तानन्त रह सकते हैं; क्योंकि वे न तो किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं अतः कोई विरोध नहीं होता ॥१५॥

शंका – एक जीव को लोकाकाश के बराबर प्रदेशवाला बतलाया है। ऐसा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में कैसे रह सकता है? उसे तो समस्त लोक में व्याप्त होकर ही रहना चाहिए?

सूत्रकार इस शङ्का के समाधान के लिए सूत्र कहते हैं-

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्॥१६॥

अर्थ – यद्यपि जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर हैं फिर भी दीपक की तरह प्रदेशों का संकोच विस्तार होने से जीव लोक के असंख्यातवें भाग आदि में रहता है।

विशेषार्थ – यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है फिर भी अनादि कालसे कर्मों के साथ एकमेक होने के कारण कथंचित् मूर्तिक हो रहा है। अतः कर्मके वश से छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है, उसके अनुसार ही उसके प्रदेशों का संकोच या फैलाव हो जाता है और वह उस शरीर में व्याप्त होकर रह जाता है। जैसे दीपक के छोटे या बड़े जैसे स्थान में रखा जाता है उसी रूप में उसका प्रकाश या तो फैल जाता है अथवा संकुचित हो जाता है। वैसे ही आत्माके विषयमें भी जानना चहिये। किन्तु प्रदेशों का संकोच विस्तार होने पर भी प्रदेशों का परिमाण नहीं घटता बढ़ता। हर हालत में प्रदेश लोकाकाश के बराबर ही रहते हैं।

शंका – यदि आत्मा के प्रदेशों में संकोच विस्तार होता है तो वे सकुचते सकुचते इतने छोटे क्यों नहीं हो जाते कि आकाश के एक प्रदेश में एक जीव रह सके ?

समाधान – आत्मा के प्रदेशों का संकोच या विस्तार शरीर के अनुसार होता है। और सबसे छोटा शरीर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के होता है जिसकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है। अतः जीव की अवगाहना इससे कम नहीं होती, कमसे कम इतनी ही रहती है। इस से वह लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ॥१६॥

अब प्रत्येक द्रव्य का कार्य बतलाते हैं-

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः॥१७॥

अर्थ – जीव और पुद्‌गल की गति रूप उपकार धर्म द्रव्य करता है और स्थिति रूप उपकार अधर्म द्रव्य करता है।

विशेषार्थ – जीव और पुद्‌गल द्रव्य एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते आते हैं। यह गमन करने की शक्ति तो जीव और पुद्‌गलों में ही है। अतः गमन करने में अन्तरंग कारण तो वे स्वयं ही हैं। किन्तु बाह्य सहायक के बिना कोई कार्य नहीं होता। अतः बाह्य सहायक धर्म द्रव्य है। किन्तु यदि कोई जीव या पुद्‌गल गमन नहीं करता हो तो उसे धर्मद्रव्य चलने की प्रेरणा नहीं करता। जैसे मछली में गमन करनेकी शक्ति तो स्वयं ही है परन्तु बाह्य सहायक जल है। किन्तु यदि मछली न चले तो जल उसे जबरन नहीं चलाता है। फिर भी जल के बिना मछली गमन नहीं कर सकती अतः उसके गमन करन में जल सहायक है। ऐसे ही अधर्म द्रव्य चलते हुए जीव पुद्‌गलों को ठहरने में सहकारी कारण है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में गमन करते हुए पथिकों को ठहरने में वृक्ष की छाया सहायक है। परन्तु वह जबरन किसी को नहीं ठहराता है।

शंका –भूमि, जल वगैरह ही गति वगैरह में सहायक देखे जात हैं

फिर धर्म और अधर्म द्रव्य को मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान – भूमि, जल वगैरह तो किसी- किसी के ही चलने या ठहरने में सहायक हैं। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्य तो सभी जीव और पुद्‌गलों की गति और स्थिति में साधारण सहायक हैं। फिर एक कार्यकी उत्पत्ति में अनेक कारण भी आवश्यक होते हैं। अतः ऊपर की शंका ठीक नहीं है ॥१७॥

क्रमशः आकाश द्रव्य का उपकार बतलाते हैं-

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अर्थ – सब द्रव्यों को अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

शंका – क्रियावान् जीव और पुद्‌गल द्रव्य को अवकाश देना तो ठीक है किन्तु धर्मादि द्रव्य तो कहीं आते-जाते नहीं हैं, अनादि काल से जहाँ के तहाँ स्थित हैं। उनको अवकाश देने की बात उचित प्रतीत नहीं होती।

समाधान – जैसे आकाश चलता नहीं है फिर भी उसे सर्वगत (जो सब जगह जाता है) कहते हैं; क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है। ऐसे ही धर्म और अधर्म द्रव्य में अवगाह रूप किया यद्यपि नहीं है फिर भी वे समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं इसलिए उपचार से उन्हें अवगाही कह दिया है। यद्यपि जीव और पुद्‌गलों को ही आकाश मुख्य रूप से अवकाश दान देता है।

शंका – यदि अवकाश (स्थान) देना आकाश का स्वभाव है तो एक मूर्तिक द्रव्य का दूसरे मूर्तिक द्रव्य से प्रतिघात नहीं होना चाहिये; क्योंकि आकाश सर्वत्र है। किन्तु देखा जाता है कि मनुष्य दीवार से टकरा कर रुक जाता है ?

समाधान – यह दोष ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य जब दीवार से टकाराता है तो वहाँ पुद्‌गलकी पुद्‌गल से टक्कर होती है, किन्तु इसमें

आकाश का क्या दोष है ? जैसे यदि रेलगाड़ी भरी हो और उसमें बैठे हुए यात्री अन्य यात्रियों को न चढ़ने दें तो इसमें रेलगाड़ी का क्या दोष है वह तो बराबर स्थान दिये हुए है।

शंका – अलोकाकाश में कोई दूसरा द्रव्य नहीं रहता अतः वहाँ के आकाश में अवकाश दान देने का स्वभाव नहीं है ?

समाधान – यदि वहाँ कोई द्रव्य नहीं रहता तो इससे आकाश अपने स्वभाव को नहीं छोड़ देता। जैसे किसी खाली मकान में यदि कोई नहीं रहता तो इसका यह मतलब नहीं है कि उस मकान में किसी को स्थान देने की शक्ति ही नहीं है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर नहीं रह सकता ॥१८॥

आगे पुद्‌गल द्रव्य का उपकार बतलाते हैं-

शरीर-वाधङ्-मनःप्राणापानाः पुद्‌गलानाम् ॥१९॥

अर्थ – शरीर, वचन, मन और श्वास उछ्वास ये सब पुद्‌गलों का उपकार है।

विशेषार्थ – हमारा शरीर तो पुद्‌गलों का बना है यह बात प्रत्यक्ष ही है। कार्मण शरीर यानी जो कर्मपिण्ड आत्मा से बंधा हुआ है वह भी पौद्‌गलिक ही है; क्योंकि मूर्तिक पदार्थों के निमित्त से ही कर्म अपना फल देते हैं। जैसे पैर में कांटा चुभने से असाता कर्म का उदय होता है और मीठे रुचिकर पदार्थ को खाने मिलने से साता कर्म का उदय होता है। अतः मूर्तिक के निमित्त से फलोदय होने के कारण कार्मण शरीर मूर्तिक ही है। वचन दो प्रकार का है- भाव वचन और द्रव्य वचन। वीर्यान्तराय कर्म और मति-श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय से आत्मा में जो बोलने की शक्ति होती है उसे भाव वचन कहते हैं। पुद्‌गल के निमित्त से होने के कारण यह भी पौद्‌गलिक है। तथा बोलने की शक्ति से युक्त जीव के कण्ठ, तालु वगैरह के संयोग

से जो पुद्‌गल शब्द रूप बनते हैं वह द्रव्य वचन है। वह भी पौद्‌गलिक ही हैं; क्योंकि कानों से सुनाई देता है। दूसरे मत वाले शब्द को अमूर्तिक मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि शब्द मूर्तिमान् श्रोत्रेन्द्रिय से जाना जाता है, मूर्तिमान् वायु के द्वारा एक दिशा से दूसरी दिशा में ले जाया जाता है, शब्द की टक्कर से प्रतिध्वनि होती है, शब्द मूर्तिक के द्वारा रुक जाता है। अतः शब्द मूर्तिक ही है। मन भी दो प्रकार का है- भाव मन और द्रव्य मन। गुण दोष के विचार की शक्तिको भाव मन कहते हैं, वह शक्ति पुद्‌गलकर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होती है अतः वहः भी पौद्‌गलिक है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से और अंगोपांग नाम कर्मके उदय से हृदयस्थान में जो पुद्‌गल मन रूप से परिणमन करते हैं, उन्हें द्रव्यमन कहते हैं। यह द्रव्य मन तो पुद्‌गलों से ही बनता है इसलिए यह भी पौद्‌गलिक है। अन्दर की वायु को बाहर निकालना उच्छ्वास या प्राण है। और बाहरकी वायु को अन्दर ले जाना निश्वास या अपान है। ये दोनों भी पौद्‌गलिक हैं क्योंकि हथेली के द्वारा नाक और मुँह को बन्द कर लेने से श्वास रुक जाता है। तथा ये आत्मा के उपकारी हैं; क्योंकि श्वास-निश्वास के बिना सशरीरी आत्मा जीवित नहीं रह सकता। इन्हीं से आत्मा का अस्तित्व मालूम होता है; क्योंकि जैसे किसी मशीन को कार्य करती हुई देखकर यह मालूम होता है कि इसका कोई संचालक है उसी तरह श्वास-निश्वास की क्रिया से आत्मा का अस्तित्व प्रतीत होता है ॥१९॥

पुद्‌गल द्रव्यका और भी उपकार बतलाते हैं-

सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च॥२०॥

अर्थ – सुख-दुःख, जीवन, मरण भी पुद्‌गल कृत उपकार हैं।

विशेषार्थ – साता वेदनीय के उदय से और बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से आत्मा को जो प्रसन्नता होती है बहु सुख है। और

असाता वेदनीय के उदयसे जो संक्लेशरूप भाव होता है वह दुःख है। आयु कर्म के उदय से एक भव में स्थित जीव के श्वासोच्छ्वास का जारी रहना जीवन है और उसका उच्छेद हो जाना मरण है। ये भी पुद्गल के निमित्त से ही होते हैं अतः पौद्गलिक हैं। यहाँ उपकार का प्रकरण होने पर भी सूत्र में जो 'उपग्रह' पद दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि पुद्गल जीवका ही उपकार नहीं करता, किन्तु पुद्गल पुद्गल का भी उपकार करता है। जैसे राख से कांसे के बर्तन साफ किये जाते हैं या निर्मली डालने से मैला पानी साफ हो जाता है। तथा यहाँ उपकार का मतलब केवल भलाई नहीं लेना चाहिये, बल्कि किसी भी कार्य में सहायक होना उपकार है ॥२०॥

आगे जीवकृत उपकार बतलाते हैं-

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थ – आपस में एक दूसरे की सहायता करना जीवों का उपकार है। जैसे, स्वामी धन वगैरह के द्वारा अपने सेवक का उपकार करता है और सेवक हित की बात कह कर और अहित से बचाकर स्वामी का उपकार करता है। इसी तरह गुरु उचित उपदेश देकर शिष्य का उपकार करता है और शिष्य गुरु की आज्ञा के अनुसार आचरण करके गुरु का उपकार करता है। उपकार का प्रकरण होते हुए भी इस सूत्र में जो उपग्रह पद दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि पहले सूत्र में बतलाये गये सुख-दुःख आदि भी जीव कृत उपकार हैं। अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को सुख- दुःख भी देता है और जीवन- मरण में भी सहायक होता है॥२१॥

अन्त में काल का उपकार बतलाते हैं-

वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ – वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

विशेषार्थ – प्रति समय छहों द्रव्यों में जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है इसीका नाम वर्तना है। यद्यपि सभी द्रव्य अपनी अपनी पर्याय रूप से प्रति समय स्वयं ही परिणमन करते हैं किन्तु बिना बाह्य निमित्त के कोई कार्य नहीं होता। और उसमें बाह्य निमित्त काल है। अतः वर्तना को काल का उपकार कहा जाता है। अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे जीव के परिणाम क्रोधादि हैं और पुद्गल के परिणाम रूप रसादि हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने का नाम क्रिया है। यह क्रिया जीव और पुद्गलों में ही पायी जाती है। जो बहुत दिनों का होता है उसे पर कहते हैं और जो थोड़े दिनों का होता है उसे अपर कहते हैं। ये सब कालकृत उपकार हैं। यद्यपि परिणाम वगैरह वर्तना के ही भेद हैं किन्तु काल के दो भेद बतलाने के लिए उन सबका ग्रहण किया है। काल द्रव्य दो प्रकार का है- निश्चय काल और व्यवहार काल। निश्चय काल का लक्षण वर्तना है और व्यवहार काल का लक्षण परिणाम वगैरह है। जीव पुद्गलों में होने वाले परिणमन में ही व्यवहारकाल घड़ी, घंटा वगैरह जाने जाते हैं। उसके तीन भेद हैं भूत, वर्तमान और भविष्य। इस घड़ी, मूहुर्त, दिन, रात, वगैरह में होनेवाले काल के व्यवहार से मुख्य निश्चयकाल का अस्तित्व जाना जाता है; क्योंकि मुख्य के होने से ही गौण व्यवहार होता है। अतः लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो एक-एक कालाणु स्थित है वही निश्चय काल है। उसी के निमित्त से वर्तना वगैरह उपकार होते हैं ॥२२॥

अब पुद्गलों का लक्षण बतलाते हैं-

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अर्थ – जिनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं उन्हें पुद्गल कहते हैं। समस्त पुद्गलों में ये चारों गुण अवश्य पाये जाते हैं।

विशेषार्थ – स्पर्श गुण आठ प्रकार का है- स्निग्ध-रूक्ष, शीत-

उष्ण, कोमल-कठोर, और हल्का- भारी । रस पाँच प्रकार का होता है- खट्टा, मीठा, कडुआ, कसैला, और चिरपरा । गन्ध दो प्रकारकी है- सुगन्ध और दुर्गन्ध । वर्ण पाँच प्रकार का है- काला, नीला, लाल, पीला और सफेद । इस तरह बीस भेद हैं । इन भेदों के भी अवान्तर भेद बहुत हैं। ये सब गुण पुद्गलों में पाये जाते हैं ॥२३॥

आगे पुद्गल द्रव्य की पर्याय बतलाते हैं-

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-
तमश्छाया-तपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अर्थ – शब्द, बन्ध,सूक्ष्मपना, स्थूलपना, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत से सब पुद्गल की ही पर्याय हैं।

विशेषार्थ – शब्द दो प्रकार का है- भाषा रूप और अभाषा रूप । भाषा रूप शब्द भी दो प्रकार का है अक्षर रूप और अनक्षर रूप । मनुष्यों के व्यवहार में आने वाली अनेक बोलियां अक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं । पशु-पक्षियों वगैरह की टें-टें,में-में अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं । अ-भाषा रूप शब्द दो प्रकार का है- एक जो पुरुष के प्रयत्न से पैदा होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं । जो बिना पुरुषके प्रयत्न के मेघ आदि की गर्जना से होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं । प्रायोगिक के भी चार भेद हैं- चमड़े को मढ़कर ढोल नगारे वगैरह का जो शब्द होता है वह तत है । सितार वगैरह के शब्द को 'वितत' कहते हैं । घण्टा वगैरह के शब्दको घन कहते हैं । बांसुरी शंख वगैरह के शब्द को 'सुषिर' कहते हैं। ये सब शब्द के भेद हैं । बन्ध भी दो प्रकार का है- वैस्त्रसिक और प्रायोगिक । जो बन्ध बिना पुरुष के प्रयत्न के स्वयं होता है उसे वैस्त्रसिक कहते हैं । जैसे पुद्गलों के स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्त से स्वयं ही बादल, बिजलीं और इन्द्रधनुष वगैरह बन जाते हैं । पुरुष के प्रयत्न से होने वाला बन्ध प्रायोगिक है । उसके भी दो भेद हैं- एक अजीव- अजीव का

बन्ध; जैसे लकड़ी और लाख का बन्ध । दूसरा जीव और अजीव का बन्ध, जैसे आत्मा से कर्म और नोकर्मका बन्ध । सूक्ष्मपना दो प्रकार का है- एक सबसे सूक्ष्म, जैसे परमाणु । दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्म, जैसे बेल से सूक्ष्म आंवला और आंवले से सूक्ष्म बेर । स्थूलपना भी दो प्रकार का है- एक सबसे अधिक स्थूल-जैसे बैर से स्थूल आंवला और आंवला से स्थूल बेल । जैसे समस्त जगत में व्यापत महास्कन्ध तरह का है- गोल, चौकोर, लम्बा; चौड़ा आदि आकारों को 'इत्थ लक्षण' कहते हैं क्योंकि उन्हें कहा जा सकता है । जिस आकार को कह सकना शक्य न हो, जैसे बादलों में अनेक प्रकार के आकार बनते बिगड़ते रहते हैं, उन्हें 'अनित्य लक्षण' कहते हैं । भेद छह प्रकार का है- आरा से लकड़ी को चीरने पर जो बुरादा निकलता है उसका नाम उत्कर है । जो गेहूं के आटे को चूर्ण कहते हैं । घड़े के ठीकरों को खण्ड कहते हैं । उड़द- मूंग वगैरह की दाल के छिलकों को चूर्णिका कहते हैं । मेघ वगैरह के पटलका नाम प्रतर है । लोहे को गर्म करके पीटने पर जो फुलिंगे निकलते हैं उन्हें अणु-चटन कहते हैं । ये सब भेद यानी टुकड़ों के प्रकार हैं । तम अन्धकार का नाम है। छाया दो प्रकार की होती है- एक तो जिस वस्तु की छाया हो उसका रूप रंग ज्यों का त्यों उसमें आ जाये, जैसे दर्पण में मुख का रूप रंग वगैरह ज्यों का त्यों आ जाता है । दूसरे प्रतिबिम्ब मात्र, जैसे धूप में खड़े होने से छाया मात्र पड़ जाती है । सूर्य के प्रकाश को आतप या घाम कहते हैं । चन्द्रमा वगैरह के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं । ये सब पुद्गल की ही पर्याएँ हैं ॥२४॥

आगे पुद्गल के भेद कहते हैं-

अणव: स्कन्धाश्च ॥२५॥

अर्थ – पुद्गल के दो भेद हैं- अणु और स्कन्ध । जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, उस अविभागी एकप्रदेशी पुद्गल द्रव्य को अणु या

परमाणु कहते हैं। और जो स्थूल हो, जिसे उठा सकें, रख सकें, वह स्कन्ध हैं। यद्यपि ऐसे भी स्कन्ध हैं जो दिखायी नहीं देते। फिर भी वे स्कन्ध ही कहलाते हैं; क्योंकि दो या दो से अधिक परमाणुओं के मेल से जो पुद्‌गल बनता है वह स्कन्ध कहा जाता है।

विशेषार्थ – पुद्‌गल बहुत तरह के होते हैं किन्तु वे सब दो जाति के होते हैं। अतः अणु और स्कन्ध में उन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। ऊपर कहे हुए बीस गुणों में से एक परमाणुओं में कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और शीत-उष्णमें से एक तथा स्निग्ध रूक्ष में से एक इस तरह दो स्पर्श रहते हैं। ऊपर जो शब्दादि गिनाये हैं वे सब स्कन्ध हैं। स्कन्धों में अनेक रस, अनेक रूप वगैरह पाये जाते हैं ॥२५॥

अब स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है यह बतलाते हैं-

भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥२६॥

अर्थ – भेद, संघात और भेद संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। स्कन्धों के टूटने को भेद कहते हैं। भिन्न भिन्न परमाणुओं या स्कन्धों के मिलकर एक हो जाने की संघात कहते हैं। जैसे दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। इसी तरह तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के मेल से उतना ही प्रदेशी स्कन्ध बनता है। तथा एक स्कन्ध में दूसरे स्कन्ध के मिलने से या अन्य परमाणुओं के मिलने से भी स्कन्ध बनता है। इन्हीं स्कन्धों के टूटने से भी दो प्रदेशी स्कन्ध तक स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। इसी तरह एक स्कन्ध के टूट कर दूसरे स्कन्ध में मिल जाने से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है ॥२६॥

अब अणु की उत्पत्ति बतलाते हैं-

भेदादणुः ॥२७॥

अर्थ – अणु की उत्पति स्कन्धों के टूटने से होती है संघात से नही होती ॥२७॥

शंका – जब संघात से ही स्कन्धों की उत्पति होती है तो भेद संघात से स्कन्धो की उत्पति क्यों बतलाई?

इस शंका के समाधान के लिये आगे का सूत्र कहते हैं-

भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अर्थ – भेद और संधात दोनों से स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय होता है।

विशेषार्थ – आशय यह है कि अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होने से ही कोई स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देखने योग्य नहीं हो जाता। किन्तु उनमें भी कोई दिखाई देने योग्य होता है और कोई दिखाई देने योग्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न पैदा होता है कि जो स्कन्ध अदृश्य है वह दृश्य कैसे हो सकता है। तो उसके समाधान के लिये यह सूत्र कहा गया है, जो बतलाया है कि केवल भेद से ही कोई स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य नहीं हो जाता किन्तु भेद और संधात दोनों से ही होता है। जैसे, एक सूक्ष्म स्कन्ध है। वह टूट जाता है। टूटने से उसके दो टुकड़े हो जाने पर भी वह सूक्ष्म ही बना रहता है और इस तरह वह चक्षु इन्द्रिय के द्वारा नहीं देखा जा सकता। किन्तु जब वह सूक्ष्म स्कन्ध दूसरे स्कन्ध मे मिलकर अपने सूक्ष्मपने को छोड़ देता है और स्थूल रुप को धारण कर लेता है तो चक्षु इन्द्रिय का विषय होने लगता है- उसे आँख से देखा जा सकता है ॥२८॥

अब द्रव्य का लक्षण कहते हैं-

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

अर्थ – द्रव्य का लक्षण सत् है। अर्थात् जो सत् है वही द्रव्य है ॥२९॥

अब सत् का लक्षण कहते है-

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

अर्थ – जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वही सत् है।

विशेषार्थ – अपनी जाति को न छोड़कर चेतन या अचेतन द्रव्य में नई पर्याय के होने को उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्डे में घट पर्याय होती है। पहली पर्याय के नष्ट होने का व्यय कहते हैं। जैसे, घट पर्याय के उत्पन्न होने पर मिट्टी का पिण्ड रूप आकार नष्ट हो जाता है। तथा पूर्व पर्याय का नाश और नई पर्याय का उत्पाद होने पर भी अपने अनादि स्वभावको न छोडना ध्रौव्य है। जैसे पिण्ड आकार के नष्ट हो जाने पर और घट पर्याय के उत्पन्न होने पर भी मिट्टी कायम रहती है। प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों धर्म एक साथ पाये जाते हैं; क्योंकि नई पर्याय का उत्पन्न होना ही पहली पर्याय का नाश है और पहले की पर्याय का नाश होना ही नई पर्याय का उत्पाद है। तथा उत्पाद होने पर भी द्रव्य वही रहता है और व्यय होने पर भी द्रव्य वही रहता है। जैसे कुम्हार मिट्टी का लौंदा लेकर और उसको चाक पर रख कर जब घुमाता है तो क्षण-क्षण में उस मिट्टी की पहली- पहली हालत बदलकर नई- नई हालत होती जाती है और मिट्टी की मिट्टी बनी रहती है। ऐसा नहीं है जो मिट्टी की नई हालत तो हो जाये और पहली हालत न बदले। या पहली हालत नष्ट हो जाये और नई हालत पैदा न हो। अथवा इन हालतों के अदलने-बदलने से द्रव्य भी और का और हो जाये। यदि केवल उत्पाद को ही माना जाये और व्यय तथा ध्रौव्य को न माना जाये तो नई वस्तु का उत्पन्न होना ही शेष रहा। ऐसी स्थिति में बिना मिट्टी के ही घट बन जायेगा। तथा यदि वस्तु का विनाश ही माना जाय और उत्पाद तथा ध्रौव्य को न माना जाये तो घड़े के फूट जाने पर ठीकरे या मिट्टी कुछ भी शेष न रहेंगे। इसी तरह यदि केवल ध्रौव्य को ही माना जाये और उत्पाद-व्यय को न माना जाय तो जो वस्तु जिस हालत में है वह उसी हालत में बनी रहेगी और उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। किन्तु ये सभी बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है- उसमें प्रति समय रद्दोबदल होती है। फिर भी जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं होता और जो

सर्वथा असत् है उसका उत्पाद नहीं होता। तथा परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु का मूल स्वभाव अपरिवर्तित रहता है- जड़ चेतन नहीं हो जाता और न चेतन जड़ हो जाता है। अतः जो सत् है वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप ही है। उसे ही द्रव्य कहते हैं ॥३०॥

आगे नित्यका स्वरूप बतलाते हैं-

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

अर्थ – वस्तु के स्वभाव को तद्भाव कहते हैं और उसका नाश न होना नित्यता है।

विशेषार्थ – यद्यपि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है किंतु परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु में कुछ ऐसी एक रूपता बनी रहती है जिसके कारण हम उसे कालान्तर में भी पहचान लेते हैं कि यह वही वस्तु है जिसे हमने पहले देखा था। उस एकरूपता का नाम ही नित्यता है। आशय यह है कि जैन धर्म में प्रत्येक वस्तु को जब प्रतिसमय परिवर्तनशील बतलाया तो यह प्रश्न पैदा हुआ कि जब प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है तो वह नित्य कैसे है? इसका समाधान करने के लिए सूत्रकार ने बतलाया कि नित्यका मतलब यह नहीं है कि जो वस्तु जिस रूप में है वह सदा उसी रूप में बनी रहे और उसमें कुछ भी परिणमन न हो। बल्कि परिणमन के होते हुए भी उसमें ऐसी एकरूपता का बना रहना ही नित्यता है जिसे देखकर हम तुरन्त पहचान लें कि यह वही वस्तु है जिसे पहले देखा था ॥३१॥

उक्त कथन का यह अभिप्राय हुआ कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। ऐसी स्थिति में यह शंका होती है कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे?

इसके समाधान के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

अर्थ – मुख्यको अर्पित कहते हैं और गौण को अनर्पित कहते हैं।

मुख्यता और गौणता से ही अनेक धर्मवाली वस्तु का कथन सिद्ध होता है।

विशेषार्थ – वस्तु में अनेक धर्म है। उन अनेक धर्मों में से वक्ता का प्रयोजन जिस धर्म से होता है वह धर्म मुख्य हो जाता है, और प्रयोजन न होने से बाकी के धर्म गौण हो जाते हैं। किन्तु किसी एक धर्म की प्रधानता से कथन करने का यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि वस्तु में अन्य धर्म हैं ही नहीं। अतः किसी धर्म की प्रधानता और किसी धर्म की अप्रधानता से ही वस्तु की सिद्धि होती है। जैसे, एक देवदत्त नाम के पुरुष में पिता, पुत्र, भाई, जमाई, मामा, भानजा आदि अनेक सम्बन्ध भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से पाये जाते हैं। पुत्र की अपेक्षा वह पिता है। पिता की अपेक्षा पुत्र है। भाई की अपेक्षा भाई है। श्वसुर की अपेक्षा जमाई है। भानजे की अपेक्षा मामा है और मामा की अपेक्षा भानजा है। इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इसी तरह वस्तु सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है। जैसे घट, घट पर्याय की अपेक्षा अनित्य है क्योंकि घड़े के फूट जाने पर घट पर्याय नष्ट हो जाती है। और मिट्टी की अपेक्षा नित्य है; क्योंकि घड़े के फूट जाने पर भी मिट्टी कायम रहती है। इसी तरह सभी वस्तुओं के विषय में समझ लेना चाहिये ॥३२॥

ऊपर यह बतलाया है कि स्कन्धों की उत्पत्ति भेद, संघात, और भेद-संघात से होती है। इसमें यह शंका होती है कि दो परमाणुओं का संयोग हो जाने से ही क्या स्कन्ध बन जाता है इसका उत्तर यह है कि दो परमाणुओं का संयोग हो जाने पर भी जब तक उनमें रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा बन्ध नहीं होता जो दोनों को एकरूप कर दे , तब तक स्कन्ध नहीं बन सकता। इस पर पुनः यह शंका होती है कि अनेक पुद्‌गलों का संयोग होता देखा जाता है परन्तु उनमें किन्हीं का परस्पर में बन्ध होता है और किन्हीं का बन्ध नहीं होता, इसका क्या कारण है ?

इसके समाधान के लिए आगे का कथन करते हैं-

स्निग्ध-रूक्षत्वाद्‌बन्धः ॥३३॥

अर्थ – स्निग्धता अर्थात् चिक्कणपना और रूक्षता अर्थात् रूखापना। इन दोनों के कारण ही पुद्‌गल परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है।

विशेषार्थ – पुद्‌गलों में स्नेह और रूक्ष के गुण पाये जाते हैं। किन्हीं परमाणुओं में रूक्ष गुण होता है और किन्हीं परमाणुओं में स्नेह गुण होता है। स्नेह गुण के अविभागी प्रतिच्छेद बहुत से होते हैं। इसी तरह रूक्ष गुण के अविभागी प्रतिच्छेद भी बहुत से होते हैं। शक्ति के सबसे जघन्य अंश को अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। एक- एक परमाणु में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं और वे घटते बढ़ते रहते हैं। किसी समय अनन्त अविभागो प्रतिच्छेद से घटते घटते असंख्यात अथवा संख्यात अथवा और भी कम अविभागी प्रतिच्छेद रह जाते हैं। और कभी बढ़कर संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद हो जाते हैं। इस तरह परमाणुओं में स्निग्धता और रूक्षता हीन या अधिक पायी जाती है, जिसका अनुमान हम स्कन्धों को देखकर कर सकते हैं। जैसे, जल से बकरी के दूध घी में, बकरी के दूध घी से गौ के दूध घी में गौ के दूध घी से भैंस के दूध घी में और भैंस के दूध घी से ऊंटनी के दूध घी में चिकनाई अधिक पायी जाती है। इसी तरह धूल से रेत में और रेत से बजरी में रूखापन अधिक पाया जाता है। वैसे ही परमाणुओं में भी चिकनाई और रुखाई कमती बढ़ती होती है। वही पुद्‌गलों के बन्ध में कारण हैं ॥३३॥

उक्त कथन से सभी परमाणुओं में बन्ध की प्राप्ति हुई। अतः जिन परमाणुओं का बंध नहीं होता उनका कथन करते हैं-

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

अर्थ – जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता।

विशेषार्थ – यहाँ गुण से मतलब अविभागी प्रतिच्छेद से है। अतः जिन परमाणुओं में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद

रह जाता है उनका बंध नहीं होता ॥३४॥

इस तरह जघन्य गुणवाले परमाणुओं के सिवा शेष सभी परमाणुओं का बन्ध प्राप्त हुआ ।

उनमें भी और नियम करते हैं, कि बंध कब नहीं होता?

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

अर्थ - गुणों की समानता होने पर सजातीय परमाणुओं का बन्ध नहीं होता ।

विशेषार्थ - यदि बँधने वाले दो परमाणु सजातीय हों और उनमें बराबर अविभागी प्रतिच्छेद हों, तो उनका भी बन्ध नहीं होता । जैसे दो गुण स्नेह वाले परमाणु का दो गुण स्नेह वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता । दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता । इसी तरह दो गुण रुक्षतावाले परमाणु का दो गुण स्निग्धतावाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । हाँ, यदि गुणों में समानता न हो तो सजातियों का भी बन्ध होता है । आशय यह है कि 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः' इस सूत्रसे केवल स्निग्धता और रूक्षता गुणवाले परमाणुओं का ही बन्ध सिद्ध होता है, स्निग्धता-स्निग्धतावालों का या रूक्षता रूक्षतावालों का बन्ध सिद्ध नहीं होता । अतः गुणों में विषमता होने पर सजातीयों का भी बन्ध बतलाने के लिए यह सूत्र बनाया गया है॥३५॥

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि विषमगुण वाले सभी सजातीय और विजातीय परमाणुओं का बन्ध होता है ।

अतः उसमें नियम करते हैं, कि बंध कब होता हैं-

द्वयधिकादिगुणानां तु॥३६॥

अर्थ - जिनमें दो गुण अधिक होते हैं उन्हीं परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता हैं ।

विशेषार्थ -सजातीय अथवा विजातीय , जिस परमाणु में स्निग्धता के दो गुण होते हैं उस परमाणु का एक गुण स्निग्धता वाले अथवा दो गुण स्निग्धताा वाले अथवा तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणुओं के साथ बन्ध नही होता, किन्तु जिनमे चार गुण स्निग्धता के होते हैं, उसके साथ बन्ध होता हैं । तथा उस दो गुण स्निग्ध परमाणु का पाँच, छै, सात, आठ, नौ, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण स्निग्ध परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता । इसी तरह तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणु का पात्र गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ ही बन्ध होता है, न उसके कम गुण वालों के साथ बन्ध होता है और न उससे अधिक गुण वाले परमाणुओं के साथ बन्ध होता है । तथा दो गुण रूक्ष परमाणु का चार गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बन्ध होता है उससे कम या अधिक गुण वाले के साथ नहीं होता । इसी तरह तीन गुण रूक्ष परमाणु का पाँच गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बन्ध होता है उससे कम या अधिक के साथ बंध नहीं होता । यह तो हुआ सजातियो का बंध । इसी तरह भिन्न जातियों मे भी लगा लेना चाहिये । अर्थात दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बंध होता है । तथा तीन गुण स्निग्ध परमाणु पाँच गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बंध होता है उससे कम या अधिक गुण वाले के बंध नही होता ।'न जधन्यगुणानाम' इस सूत्र से लगाकर आगे के सूत्रो में जो बंध का निषेध चला आता था उसका निवारण करने के लिए इस सूत्र में 'तु' पद लगा दिया है, जो निषेध को हटाकर बंध का विधान करता है ॥३६॥

अब यह शंका होती है कि अधिक गुण वालों का ही बंघ क्यों बतलाया, समान गुण वालों का क्यों नही बतलाया? अतः उसके समाधान के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

बन्धेऽधिको पारिणामिको च ॥३७॥

अर्थ - बन्ध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कम गुण

वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है।

विशेषार्थ – जब दो परमाणु अपनी- अपनी पूर्व अवस्था को छोड़ कर एक तीसरी अवस्था को अपनाते हैं तभी स्कन्ध बनता है। यदि ऐसा न हो और जैसे वस्त्र मे काले और सफेद धागे आपस मे संयुक्त होकर भी जुदे-जुदे ही रहते हैं वैसे ही यदि परमाणु भी रहें तो कभी भी स्कन्ध नहीं बन सकता। अतः बन्ध होने पर अधिक गुणवाला परमाणु अपने से कम गुणवाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है। इससे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और उनके रूप रस आदि गुणों में भी परिवर्तन होकर स्कन्ध बन जाता है। इसी से बँधने वाले परमाणुओं में दो गुण का अन्तर रक्खा। इससे अधिक अन्तर होने से एक परमाणु दूसरे में लय तो हो सकता है किन्तु फिर तीसरी अवस्था पैदा नहीं हो सकती; क्योंकि अल्प गुणवाला अपने से अधिक गुणवाले पर कुछ भी प्रभाव नही डाल सकता। इसी तरह अन्तर न रखने से भी दोनों समान बलशाली होने से एक दूसरे को अपने रूप में परिणमा कर अलग-अलग ही रह जाते ॥३७॥

अब दूसरी तरह से द्रव्य का लक्षण कहते हैं -

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ॥३८॥

अर्थ – जिसमें गुण और पर्याय पायी जाती है उसे द्रव्य कहते हैं।

विशेषार्थ – द्रव्य में अनेक परिणमन होने पर भी जो द्रव्य से भिन्न नहीं होता, सदा द्रव्य के साथ ही रहता है वह गुण है। इसी से गुण को अन्वयी कहा गया है और जो द्रव्य में आती जाती रहती है वह पर्याय है; इसी से पर्याय को व्यतिरेकी कहा है। गुण पर्याय रूप ही द्रव्य है। जैसे, ज्ञान आदि जीव के गुण हैं और रूप आदि पुदगल के गुण हैं। न ज्ञान जीव को छोडकर रह सकता है ओर न रूप आदि गुण पुदगल को छोडकर रह सकते हैं। हाँ, ज्ञानगुण में भी परिणमन होता है जैसे घटज्ञान, पटज्ञान। रूप आदि में भी परिणमन होता है। यह परिणमन ही पर्याय है।

पहले द्रव्य का लक्षण सत् कहा था और सत् का लक्षण 'उत्पाद-व्यय और घ्रौव्य से जो युक्त हो वही सत है' ऐसा कहा था। यहाँ गुण पर्यायवान् को द्रव्य कहा है। इन दोनों लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है। एक के कहने से दूसरे का अन्तर्भाव हो जाता है; क्योकि गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद -विनाशशील होती है। यदि द्रव्य में गुण न हो तो वह ध्रौव्य युक्त नही हो सकता और यदि पर्याय न हो तो वह उत्पाद-व्यय युक्त नही हो सकता। अतः जब हम कहते हैं कि द्रव्य ध्रौव्ययुक्त है तो उसका मतलब होता है कि द्रव्य गुणवान है। और जब उसे उत्पाद विनाशवाला कहते हैं तो उसका मतलब होता है कि वह पर्यायवान है। अतः दोनों लक्षण प्रकारान्तर से एक ही बात को कहते हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि द्रव्य, गुण और पर्याय की सत्ता जुदी जुदी नहीं हैं किन्तु सबका अस्तित्व अथवा सत्ता एक ही है जो द्रव्य के नाम से कही जाती है। इसी से सत् को द्रव्य कहते हैं-

अब काल द्रव्य को कहते हैं-

कालश्च ॥३९॥

अर्थ – काल भी द्रव्य है।

विशेषार्थ –ऊपर द्रव्य के दो लक्षण बतलाये हैं। वे दोनों लक्षण काल में पाये जाते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है- पहला लक्षण है कि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जावें वह द्रव्य है। सो काल द्रव्यमें ध्रौव्य पाया जाता है क्योंकि काल का स्वभाव सदा स्थायी है। तथा उत्पाद और व्यय पर के निमित्त से भी होते हैं और स्वनिमित्तक भी होते हैं; क्योंकि काल द्रव्य प्रति समय अनन्त पदार्थों के परिणमन में करण है, अतः कार्य के भेद से कारण में भी प्रति समय भेद होना जरूरी है यह परनिमित्तक उत्पाद-व्यय है। तथा कालमें अगुरुलघु नाम के गुण भी पाये जाते हैं। उनकी वृद्धि हानि होने की अपेक्षा से उसमें स्वयं भी उत्पाद,

व्यय प्रति समय होता रहता है। दूसरा लक्षण है जो गुण पर्याय वाला हो वह द्रव्य है। सो काल द्रव्य में सामान्य गुण भी पाये जाते हैं और विशेष गुण भी पाये जाते हैं। काल द्रव्य समस्त द्रव्यों को वर्तना में हेतु है। यह उसका विशेष गुण हैं; क्योंकि यह गुण अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता । अचेतनपना, अमूर्तिकपना, सूक्ष्मपना, अघुरुलघुपना आदि सामान्य गुण हैं जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। उत्पाद-व्ययरूप पर्याय भी काल में होती है। अतः दोनों लक्षणों से सहित होने के कारण काल भी द्रव्य है। यह काल द्रव्य अमूर्तिक है क्योंकि उसमें रूप, रस वगैरह गुण नहीं पाये जाते। तथा ज्ञान दर्शन आदि गुणों से रहित होने से अचेतन है। किन्तु काल द्रव्य बहु प्रदेशी नहीं है; क्योंकि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु रत्नों की राशि की तरह अलग अलग स्थित हैं। वे आपसमें मिलते नहीं हैं। अतः काल द्रव्य काय नहीं है। और प्रत्येक कालाणु एक- एक काल द्रव्य है। इससे काल द्रव्य एक नहीं हैं किन्तु जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य हैं। अतः काल द्रव्य असंख्यात हैं और वे निष्क्रिय हैं- एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर नहीं जाते जहाँ के तहाँ ही बने रहते हैं ॥३९॥

अब व्यवहार काल का प्रमाण बतलाते हैं-

सोऽनन्तसमयः॥४०॥

अर्थ – वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है- अर्थात् काल के समयों का अंत नहीं है।

विशेषार्थ – भूत, भविष्यत् और वर्तमान- ये व्यवहार काल के भेद हैं। सो वर्तमान काल का प्रमाण तो एक समय है; क्योंकि एक समयके समाप्त होने पर वह भूत हो जाता है और जो दूसरा समय उसका स्थान लेता है वह वर्तमान कहलाता है, किंतु भूत और भविष्यत् काल अनन्त समय वाला है। इसीसे व्यवहार काल की अनंत समय वाला कहा है।

अथवा यह सूत्र मुख्य काल का ही प्रमाण बतलाता है; क्योंकि एक कालाणु अनन्त पर्यायों की वर्तनाा में कारण है इसलिए उपचार से कालाणु को अनंत कह सकते हैं। काल के सबसे सूक्ष्म अंशका नाम समय है। और समयों के समूह का नाम आवली घड़ी आदि है। वह सब व्यवहार काल है, जो मुख्य काल द्रव्य की ही पर्याय रूप है ॥४०॥

अब गुण का लक्षण कहते हैं-

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

अर्थ – जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं तथा जिनमें अन्य गुण नहीं रहते, उन्हें गुण कहते हैं।

शंका – गुण का यह लक्षण पर्याय में भी पाया जाता है; क्योंकि पर्याय भी द्रव्य के आश्रय से ही रहती है और उसमें गुण भी नहीं रहते। अतः यह लक्षण ठीक नहीं है ?

समाधान – गुण तो सदा ही द्रव्य के आश्रय से रहता है, कभी भी द्रव्य को नहीं छोड़ता। किन्तु पर्याय अनित्य होती है एक जाती है दूसरी आती है। अतः गुण का उक्त लक्षण पर्याय में नहीं रहता ॥४१॥

अनेक जगह परिणाम शब्द आया है। अतः उसका लक्षण कहते हैं-

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

अर्थ – धर्मादि द्रव्य जिस स्वरूप से होते हैं उसे तद्भाव कहते हैं। और उस तद्भाव का ही नाम परिणाम है।

विशेषार्थ – जिस द्रव्य का जो स्वभाव है वही परिणाम है। जैसे धर्म द्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलों की गतिमें निमित्त होना है। वही तद्भाव है। धर्म द्रव्य का परिणमन सदा उसी रूप से होता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी समझ लेना चाहिए ॥४२॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

षष्ठम अध्याय

अजीव तत्व का व्याख्यान करके अब आस्रव तत्व का कथन करते हैं-

काय-वाङ् मन:कर्मयोग: ।।१।।

अर्थ – काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं।

विशेषार्थ – वास्तव में तो आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होती है उसका नाम योग है। वह योग या तो शरीर के निमित्त से होता है या वचन के निमित्त से होता है अथवा मन के निमित्त से होता है। इसलिए निमित्त के भेद से योग के तीन भेद हो जाते हैं- काययोग, वचनयोग और मनोयोग। प्रत्येक योग के होने में दो कारण होते हैं- एक अन्तरंग कारण, दूसरा बाह्य कारण। अल्प ज्ञानियों में अन्तरंग कारण कर्मों का क्षयोपशम है और केवल ज्ञानियों में अन्तरंग कारण कर्मों का क्षय है तथा बाह्य कारण वे नो कर्म वर्गणाएँ हैं जिनमें शरीर, वचन और मनकी रचना होती है तथा जिन्हें जीव हर समय ग्रहण करता रहता है। अत: वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होने पर सात प्रकारकी काय वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा की सहायता से जो आत्म प्रदेशों में हलन चलन होता है उसे काययोग कहते हैं। वीर्यान्तराय और मत्यक्षरावरण आदि कर्मों का क्षयोपशम होने से जब जीव में वाग्लब्धि प्रकट होती है और वह बोलने के लिए तत्पर होता है तब वचन वर्गणा के निमित्त से जो आत्म प्रदेशों में हलन चलन होता है उसे वचन योग कहते हैं। वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा मनोवर्गणा का आलम्बन पाकर चिन्तन के लिए तत्पर हुए आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होने पर तीनों वर्गणाओं की अपेक्षा से सयोग केवली के आत्म प्रदेशों में जो हलन चलन होता है वह कर्म क्षय निमित्तक योग है। इस

तरह योग तेरहवें गुणस्थान तक ही रहता है। इसी से चौदहवें गुणस्थान का नाम अयोग-केवली है। अयोग केवली के तीनों प्रकार की वर्गणाओं का आना रुक जाता है इससे वहाँ योग का अभाव हो जाता है ।।१।।

यह योग ही आस्रव है-

स आस्रव: ।।२।।

अर्थ – यह योग ही आस्त्रव है। अर्थात् सरोवर में जिस द्वार से पानी आता है वह द्वार पानी के आने में कारण होने से आस्त्रव कहा जाता है। वैसे ही योग के निमित्त से आत्मा के कर्मों का आगमन होता है इसलिए योग ही आस्त्रव है। आस्त्रव का अर्थ आगमन है।

योग के द्वारा जो कर्म आता है वह कर्म दो प्रकार का है- पुण्य कर्म और पाप कर्म। अत: वह यह बताते हैं कि किस योग से किस कर्म का आस्त्रव होता है।

शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य ।।३।।

अर्थ – शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्त्रव होता है और अशुभ योग से पाप कर्म का आस्त्रव होता है।

विशेषार्थ – किसी के प्राणों का घात करना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना आदि अशुभ काय योग है। झूठ बोलना, कठोर असभ्य वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है। किसी के मारने का विचार करना, किसीसे ईर्ष्या रखना आदि अशुभ मनोयोग है। इनसे पाप कर्म का आस्त्रव होता है। तथा प्राणियों की रक्षा करना, हित-मित वचन बोलना, दूसरों का भला सोचना आदि शुभ योग हैं। इनसे पुण्य कर्म का आस्त्रव होता है।

शंका – योग शुभ अशुभ कैसे होता है ?

समाधान – शुभ परिणाम से होने वाला योग शुभ है और अशुभ परिणाम से होने वाला योग अशुभ है।

शंका – जो शुभ कर्म का कारण है वह शुभ योग है और जो पाप कर्मों के आगमन में कारण है वह अशुभ योग है । यदि ऐसा लक्षण किया जाय तो क्या हानि है?

समाधान – यदि ऐसा लक्षण किया जायगा तो शुभ योग का अभाव ही हो जायेगा; क्योंकि आगम में लिखा है कि जीव के आयु कर्म के सिवा शेष सात कर्मों का आस्त्रव सदा होता रहता है । अतः शुभ योग से भी ज्ञानावरण आदि पापकर्मों का बन्ध होता है । इसलिये उपर का लक्षण ही ठीक है ।

शंका –जब शुभ योग से भी घातिकर्मों का बन्ध होता है तो सूत्रकार ने ऐसा क्यों कहा कि शुभयोग से पुण्यकर्म का बन्ध होता है ?

समाधान – यह कथन घाति कर्मों की अपेक्षा से नहीं है । किन्तु अघाति कर्मोंकी अपेक्षा से है । अघातिया कर्म के दो भेद हैं- पुण्य और पाप। सो उनमें से शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्त्रव होता है और अशुभ से पाप कर्म का आस्त्रव होता है । शुभयोग के होते हुए भी घातिया कर्मों का अस्तित्व रहता है उनका उदय भी होता है उसी से घातिया कर्मों का बन्ध होता है ॥३॥

आगे स्वामी की अपेक्षा से आस्त्रव के भेद कहते हैं-

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः॥४॥

अर्थ – कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्त्रव होता है । और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्त्रव होता है ।

विशेषार्थ – स्वामी के भेद से आस्त्रव में भेद हैं । आस्त्रव के स्वामी दो हैं- एक सकषाय जीव, दूसरे कषाय रहित जीव । जैसे वट आदि वृक्षों की कषाय यानी गोंद वगैरह चिपकाने में कारण होती है उसी तरह क्रोध आदि भी आत्मा से कर्मों को चिपटा देते हैं इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं । तथा जो आस्त्रव संसारका कारण होता है उसे साम्परायिक आस्त्रव कहते हैं और जो आस्त्रव केवल योग से ही होता है उसे ईर्यापथ आस्त्रव कहते हैं । इस

ईर्यापथ आस्त्रव के द्वारा जो कर्म आते हैं उनमें एक समय की भी स्थिति नहीं पड़ती; क्योंकि कषाय के न होने से कर्म जैसे ही आते हैं वैसे ही चले जाते है । इसीसे कषाय से सहित जीवों के जो आस्त्रव होता है उसका नाम साम्परायिक है क्योंकि वह संसार का कारण है । कषाय रहित जीवों के अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक जो आस्त्रव होता है वह केवल योग से ही होता है इसलिए उसे ईर्यापथ आस्त्रव कहते हैं ॥४॥

साम्परायिक आस्त्रव के भेद कहते हैं-

इन्द्रिय-कषायव्रतक्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-
पञ्च विंसंतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थ – इन्द्रिय पाँच, कषाय चार, अव्रत पाँच, क्रिया पच्चीस, ये सब साम्परायिक आस्त्रव के भेद हैं ।

विशेषार्थ – पाँच इन्द्रियाँ पहले कह आये हैं । चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं । हिंसा, असत्य वगैरह पाँच अव्रत आगे कहेंगे । यहाँ पच्चीस क्रियाएं बतलाते हैं । देव, शास्त्र और गुरु की पूजा आदि करने रूप जिन क्रियाओं से सम्यक्त्वकी पुष्टि होती है उन्हें सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं । कुदेव आदिकी पूजा आदि करने रूप जिन क्रियाओं से मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है उन्हें मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं । काय आदि से गमन-आगमन करना प्रयोग क्रिया है। संयमी होते हुए असंयम की ओर अभिमुख होना समादान क्रिया है जो क्रिया ईर्यापथ में निमित्त होती है वह ईर्यापथ क्रिया है ॥५॥ क्रोध के आवेश में जो क्रिया की जाती है वह प्रादोषिकी क्रिया है । दुष्टतापूर्वक उद्यम करना कायिकी क्रिया है। हिंसा के उपकरण लेना आधिकरणिकी क्रिया है । जो क्रिया प्राणियों को दुःख पहुँचाती है वह पारितापिकी क्रिया है । किसीकी आयु, इन्द्रिय, बल आदि प्राणों का वियोग करना यानी जान ले लेना प्राणातिपातिकी क्रिया है ॥१०॥ प्रमादी

जीव रागके वश में होकर जो सुन्दर रूप को देखने का प्रयत्न करता है वह दर्शन क्रिया है । प्रमाद से आलिंगन करने की भावना स्पशर्न क्रिया है। विषय की नई- नई सामग्री जुटाना प्रात्ययिकी क्रिया है । स्त्री, पुरुष, पशु आदि के उठने बैठने के स्थान पर मल मूत्र आदि करना समन्तानुपातन क्रिया है । बिना देखी बिना साफ की हुई जमीन पर उठना- बैठना अनाभोग क्रिया है ॥१५॥ दूसरे के करनेयोग्य काम को स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है । जो प्रवृत्ति पाप का कारण है उसमें सम्मति देना निसर्ग क्रिया है । दूसरे के द्वारा किये गये पापको प्रकट कर देना विदारण क्रिया है । चारित्र मोह के उदयसे शास्त्र विहित आवश्यक क्रियाओं को पालने में असमर्थ होने पर उनका अन्यथा कथन करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है । शठता अथवा आलस्य से आगम में कही हुई विधि का अनादर करना अनाकांक्ष क्रिया है ॥२०॥ छेदन- भेदन आदि क्रिया में तत्पर रहना और दूसरा कोई वैसा करता हो तो देखकर प्रसन्न होना आरम्भ किया है । परिग्रह की रक्षा में लगे रहना परिग्राहिकी क्रिया है । ज्ञान- दर्शन वगैरह के विषय में कपट व्यवहार करना माया क्रिया है । कोई मिथ्यात्व क्रिया करता हो या दूसरे से कराता हो तो उसकी प्रशंसा करके उसे उस काम में दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शन क्रिया है । संयम को घातनेवाले कर्मके उदय से संयम का पालन नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया है ॥२५॥ ये पच्चीस क्रियाएं हैं जो साम्परायिक आस्त्रव के कारण हैं ॥५॥

सब संसारी जीवों में योग की समानता होते हुए भी आस्रव में भेद होने का हेतु बतलाते हैं-

तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-
वीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेष: ॥६॥

अर्थ – तीव्र भाव, मन्द भाव, ज्ञात भाव, अज्ञात भाव अधिकरण और वीर्य, इनकी विशेषता से आस्त्रव में भेद हो जाता है ।

विशेषार्थ – क्रोधादि कषायों की तीव्रता को तीव्र भाव कहते हैं । कषायों की मन्दता को मन्द भाव कहते हैं । अमुक प्राणी को मारना चाहिये ऐसा संकल्प करके उसे मारना ज्ञात भाव है । अथवा प्राणी का घात हो जाने पर यह ज्ञान होना कि मैंने इसे मार दिया यह भी ज्ञात भाव है। मद से या प्रमाद से बिना जाने ही किसी का घात हो जाना अज्ञात भाव है । आस्त्रव के आधार द्रव्य को अधिकरण कहते हैं और द्रव्य की शक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं । इनके भेदसे आस्त्रव में अन्तर पड़ जाता है । ये जहाँ जैसे होते हैं वैसा ही आस्त्रव भी होता है ॥६॥

अधिकरण के भेद बतलाते हैं-

अधिकरणं जीवाजीवा: ॥७॥

अर्थ – आस्त्रव के आधार जीव और अजीव हैं । यद्यपि जीव और अजीव दो ही हैं फिर भी जिस तिस पर्याय से युक्त जीव अजीव ही अधिकरण होते हैं, और पर्याय बहुत हैं । इसलिए सूत्र में जीवाजीवा: बहुवचनका प्रयोग किया है ॥७॥

अब जीवाधिकरण के भेद कहते हैं-

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-
कषायविशेषैस्त्रि स्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश: ॥८॥

अर्थ – संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ ये तीन, मन-वचन-काय ये तीन, कृत-कारित--अनुमोदन ये तीन, क्रोध- मान- माया और लोभ ये चार इन सबको परस्पर में गुणा करने से जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद होते हैं ।

विशेषार्थ – प्रमादी होकर हिंसा वगैरह करने का विचार करना समरंभ है । हिंसा वगैरह की साधन सामग्री जुटाना समारम्भ है । हिंसा वगैरह करना आरंभ है । स्वयं करना कृत है । दूसरे से कराना कारित है । कोई करता हो तो उसकी सराहना करना अनुमोदना है ।

इसमें मूल वस्तु समरंभ, समारम्भ और आरम्भ हैं । इन तीनों में से प्रत्येक के काय, वचन और मन के भेद से तीन-तीन प्रकार हैं । इन तीन-तीन प्रकारों में से भी प्रत्येक भेद के कृत, कारित और अनुमोदना की अपेक्षा से तीन-तीन भेद हैं । इस प्रकार संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के नौ नौ प्रकार हुए । इन नौ-नौ प्रकारों में से भी प्रत्येक प्रकार चार कषायों की अपेक्षा से चार-चार प्रकारका होता है । अत: प्रत्येकके ३६-३६ भेद होने से तीनों के मिलकर १०८ भेद होते हैं । ये ही जीवाधिकरण के भेद हैं ॥८॥

इसके अनन्तर अजीवाधिकरण के भेद कहते हैं-

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुर्द्वि-त्रिभेदा: परम् ॥९॥

अर्थ - निर्वर्तनाके दो भेद, निक्षेप के चार भेद, संयोगके दो भेद और निसर्ग के तीन भेद, सब अजीवाधिकरण के भेद हैं ।

विशेषार्थ - उत्पन्न करने, रचना करने अथवा बनाने का नाम निर्वर्तना है । उसी के दो भेद हैं- मूल गुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना । शरीर, वचन, मन और श्वास-निश्वास की रचना करना मूलगुण-निर्वर्तना है और लकड़ी वगैरह पर चित्र आदि बनाना उत्तर गुण-निर्वर्तना है । निक्षेप नाम रखने का है । उसके चार भेद हैं- बिना देखे वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है । दुष्टतावश असावधानी से वस्तु को रखना दु:प्रमृष्ट निक्षेप है । किसी भय से या किसी अन्य कार्य करने की शीघ्रता से वस्तु को जमीन पर जल्दी से पटक देना सहसा-निक्षेप है । बिना साफ की हुई तथा बिना देखी हुई भूमि में पड़ रहना अना-भोगनिक्षेप है । अनेक वस्तुओं के मिलाने को संयोग कहते हैं । उसके दो भेद हैं- शीत और उष्ण । उपकरणों को मिला देना या शुद्ध और अशुद्ध उपकरणों को मिलाना उपकरण संयोग है । सचित्त और अचित्त खानपान को एक में मिला देना भक्तपान संयोग है । निसर्ग नाम प्रवृत्ति करने का है । उसके तीन भेद

हैं- दुष्टता-पूर्वक मन की प्रवृत्ति करना मनोनिसर्ग है । दुष्टतापूर्वक वचन की प्रवृत्ति करना वाग्निसर्ग है और दुष्टतापूर्वक काय की प्रवृत्ति करना कायनिसर्ग है ॥९॥

इस प्रकार जीव और अजीव द्रव्य के आश्रय से ही कर्म का आस्त्रव होता है । अब सामान्य आस्त्रव को कहकर विशेष आस्त्रव का कथन करते हैं ।

प्रथम ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्त्रव के कारण कहते हैं-

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो: ॥१०॥

अर्थ - ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात के करने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्त्रव होता है ।

विशेषार्थ - कोई पुरुष मोक्ष के साधन तत्त्वज्ञान का उपदेश करता हो तो मुख से कुछ भी न कहकर हृदय में उससे ईर्ष्या आदि रखना प्रदोष है । अपने को शास्त्र का ज्ञान होते हुए भी किसी के पूछने पर यह कह देना कि मैं नहीं जानता, निह्नव है । अपने को शास्त्र का ज्ञान होते हुए भी दूसरों को इसलिए नहीं देना कि वे जान जायेंगे तो मेरे बराबर हो जायेंगे- मात्सर्य है । किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है । सम्यग्ज्ञान का समादर न करना, उल्टे उसके उपदेष्टा को रोक देना आसादना है । सम्यग्ज्ञान को एकदम झूठा बतलाना उपघात है । इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्त्रव होता है। ।१०॥

आगे असाता वेदनीय कर्म के आस्त्रव के कारण कहते हैं-

दु:ख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थ – दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिवेदन इन्हें स्वयं करने से, दूसरों में करने से तथा दोनों में करने से असाता वेदनीय कर्म का आस्त्रव होता है।

विशेषार्थ – पीड़ा रूप परिणाम को दुःख कहते हैं। अपने किसी उपकारों का वियोग हो जाने पर मन का विकल होना शोक है। लोक में निन्दा वगैरह के होने से तीव्र पश्चाताप का होना ताप है। पश्चाताप के दुःखी होकर रोना धोना आक्रन्दन है। किसी के प्राणों का घात करना वध है। अत्यन्त दुखी होकर ऐसा रुदन करना जिसे सुनकर सुनने वालों के हृदय द्रवित हो जायें परिवेदन है। इस प्रकार के परिणाम जो स्वयं करता है या दूसरों को दुखी करता या रुलाता है अथवा स्वयं भी दुखी होता है और दूसरों को भी दुखों करता है उसके असातावेदनीय कर्म का आस्त्रव होता है।

शंका – यदि स्वयं दुःख उठाने और दूसरो को दुःख में डालने से असातावेदनीय कर्मका आस्त्रव होता है, तो तीर्थङ्करों ने केशलोंच, उपवास तथा धूप वगैरह में खड़े होकर तपस्या क्यों की और क्यों दूसरों को वैसा करने का उपदेश दिया? क्योंकि ये सब बातें दुःख देनेवाली हैं।

समाधान – क्रोध आदि कषाय के आवेश में आकर जो दुःख स्वयं उठाया जाता है अथवा दूसरों को दिया जाता है उससे असाता वेदनीय कर्मका आस्त्रव होता है। जैसे एक दयालु डाक्टर किसी रोगी का फोड़ा चीरता है। फोड़ा चीरने से रोगी को बड़ा कष्ट होता है फिर भी डाक्टर को उससे पाप बन्ध नहीं होता; क्योंकि उसका प्रयत्न तो रोगी का कष्ट दूर करने के लिए ही है। इसी तरह तीर्थङ्कर भी संसार के दुखों से त्रस्त जीवों के कल्याण की भावना से ही उन्हें मुक्तिका मार्ग बतलाते हैं। अतः उन्हें असाता का आस्त्रव नहीं होता ॥११॥

सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं-

भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सरागसंयमादियोगः
क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थ – प्राणियों पर और व्रती पुरुषों पर दया करना यानी उनकी पीड़ाको अपनी पीड़ा समझना, दूसरों के कल्याणकी भावना से दान देना, राग सहित संयमका पालना, आदि शब्द से संयमासंयम, (एक देश संयम का पालना); अकाम निर्जरा (अपनी इच्छा न होते हुए भी परवश होकर जो कष्ट उठाना पड़े उसे शान्ति के साथ सहन करना), बालतप (आत्म ज्ञान रहित तपस्या करना), इनको मनोयोग पूर्वक करना, क्षान्ति (क्षमा भाव रखना), शौच (सब प्रकार के लोभको छोड़ना) इस प्रकारके कार्यों से सातावेदनीय कर्मका आस्त्रव होता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि यद्यपि प्राणियों में व्रती भी आ जाते हैं फिर भी जो व्रतियों का अलग ग्रहण किया है सो उनकी और विशेष लक्ष्य दिलाने के उद्देश्य से किया है ॥१२॥

आगे दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रव के कारण कहते हैं-

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अर्थ – केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवों को झूठा दोष लगाने से दर्शनमोह का आस्त्रव होता है।

विशेषार्थ – जिनका ज्ञान पूरा प्रकट होता है उन अर्हन्त भगवान को केवली कहते हैं। अर्हन्त भगवान भूख- प्यास आदि दोषों से रहित होते हैं। अतः यह कहना कि वे हम लोगों की तरह ही ग्रासाहार करते हैं और उन्हें भूख प्यासकी बाधा सताती है तो यह उनको झूठा दोष लगाना है। उन केवली के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है उसे याद रखकर गणधर जो ग्रन्थ रचते हैं उन्हें श्रुत कहते हैं। उस श्रुत में मांस भक्षणका विधान है ऐसा

कहना श्रुत को झूठा दोष लगाना है । रत्नत्रय के धारी जैन श्रमणों के समुदाय को संघ कहते हैं । वे जैन साधु नंगे रहते हैं, स्नान नहीं करते; अतः उन्हें शूद्र, निर्लज्ज, अपवित्र आदि कहना संघको झूठा दोष लगाना है । जिन भगवान के द्वारा कहा हुआ जो अहिंसामयी धर्म है उसकी निन्दा करना धर्म में झूठा दोष लगाना है । देवों को मांसभक्षी, मदिरा प्रेमी, परस्त्रीगामी आदि कहना देवों में झूठा दोष लगाना है । इन कामों से दर्शन मोहका आस्त्रव होता है ॥१३॥

आगे चारित्र मोह के आस्त्रव का कारण कहते हैं-

कषायोदयातीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

अर्थ – कषाय के उदय से परिणामों में कलुषता के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्त्रव होता है ॥१४॥

इसके बाद आयु कर्म के आस्त्रव के कारण बतलाते हुए पहले नरकायु के आस्त्रव के कारण कहते हैं-

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

अर्थ – बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायु के आस्त्रव के कारण हैं ॥१५॥

तिर्यञ्च आयु के आस्त्रव के कारण कहते हैं-

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

अर्थ – मायाचार तिर्यञ्च आयुके आस्त्रव का कारण है ॥१६॥

मनुष्यायु के आस्त्रव के कारण कहते हैं-

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अर्थ – थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायु के आस्त्रव का कारण है ॥१७॥

मनुष्याय के आस्त्रव के और भी कारण हैं-

स्वभावमार्दवञ्च ॥१८॥

अर्थ – स्वभाव से ही परिणामों का कोमल होना भी मनुष्यायु के आस्त्रव का कारण है ॥१८॥

और भी विशेष कहते हैं-

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अर्थ – यहाँ 'च' शब्द से थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह लेना चाहिए । अतः थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह होने से तथा शील और व्रतों का पालन न करने से चारों ही आयु का आस्त्रव होता है ।

शंका – क्या देवायु का भी आस्त्रव होता है?

समाधान – हाँ, होता है । भोगभूमिया जीवों के व्रत और शील नहीं हैं फिर भी उनके देवायु का ही आस्त्रव होता है ॥१९॥

देवायु के आस्त्रव के कारण कहते हैं-

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसिदैवस्य ॥२०॥

अर्थ – सराग, संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बाल तप, ये देवायु के आस्त्रव के कारण हैं । रागपूर्वक संयम के पालने को सराग संयम कहते है । त्रस हिंसा का त्याग करने और स्थावर हिंसा के त्याग न करने को संयमासंयम कहते हैं । पराधीनता वश जेलखाने वगैरह में इच्छा न होते हुए भी भूख प्यास वगैरह के कष्ट को शांति पूर्वक सहना अकामनिर्जरा है । आत्मज्ञान रहित तप को बाल तप कहते हैं । इनसे देवायु का आस्त्रव होता है ॥२०॥

देवायु के आस्त्रव का और भी कारण हैं-

सम्यक्त्वञ्च ॥२१॥

अर्थ – सम्यक्त्व भी देवायु के आस्त्रव का कारण है। यहाँ यद्यपि यह नहीं कहा है कि सम्यक्त्व अमुक देवायु का कारण है फिर भी अलग सूत्र बनाने से यह अर्थ निकलता है कि सम्यक्त्व से वैमानिक देवों की आयु का आस्त्रव होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव मर कर भवन-त्रिक में जन्म नहीं लेता।

शंका – तो क्या सरागसंयम आदि सूत्र में जो देवायु के आस्त्रव के कारण बतलाये हैं वे सब प्रकार की देवायु के आस्त्रव के कारण हैं ? यदि ऐसा है तब तो सरागसंयम और संयमासंयम भी भवनवासी, आदि देवोंकी आयुके कारण हुए ?

समाधान – नहीं हुए, क्योंकि बिना सम्यक्त्वके सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते। अत: जब सम्यक्त्व वैमानिक देवायु का कारण है तो वे दोनों भी उसी के कारण हुए ॥२१॥

इसके बाद नाम कर्म के आस्त्रव के कारण बतलाते हुए पहले अशुभ नाम कर्म के आस्त्रव के कारण बतलाते हैं-

योगवक्रता-विसंवादनञ्चाशुभस्य नाम्न:॥२२॥

अर्थ – मन-वचन और कायकी कुटिलता से तथा किसी को धर्मके मार्गसे छुड़ा कर अधर्म के मार्गमें लगाने से अशुभ नाम कर्म का आस्त्रव होता है।

शंका – योगवक्रता और विसंवादन में क्या अंतर है ?

समाधान – जो मनुष्य किसीको धोखा देता है उसमें तो योगवक्रता होती है तभी तो वह दूसरे को धोखा देता है और दूसरे को धोखा देना विसंवादन है। अर्थात् दोनों में एक कारण है, दूसरा कार्य है ॥२२॥

शुभ नामकर्म के आस्त्रव के कारण बतलाते हैं-

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

अर्थ – जो अशुभ नाम कर्मके आस्त्रवके कारण कहे हैं उनसे उल्टे

शुभ नामकर्मके आस्त्रव के कारण हैं। अर्थात् मन-वचन और कायकी सरलतासे और किसी को धोखा न देने से शुभ नामकर्मका आस्त्रव होता है ॥२३॥

नाम कर्मके भेदों में एक तीर्थङ्कर नाम कर्म है उसका आस्त्रव कुछ विशेष कारणों से होता है। अत: उसे अलगसे बतलाते हैं-

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधि-वैयावृत्यकरण-मर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य॥२४॥

अर्थ – दर्शन विशुद्धि (भगवान् अर्हन्त देवके द्वारा कहे गये निर्ग्रन्थता रूप मोक्ष मार्ग में आठ अंग सहित रुचिका होना), विनय सम्पन्नता (मोक्ष के साधन सम्यग्ज्ञान वगैरहका और सम्यग्ज्ञान के साधन गुरु वगैरहका आदर सत्कार करना), शीलव्रतेषु-अनतिचार (अहिंसा आदि व्रतों का और व्रतों का पालन करने के लिए बतलाये गये शीलों का अतिचार रहित पालन करना), अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (सदा सम्यग्ज्ञान के पठन-पाठनमें लगे रहना), संवेग (संसार के दु:खों से सदा उद्विग्न रहना) शक्तित:त्याग (शक्ति के अनुसार विधि पूर्वक दान देना), शक्तित:तप (अपनी शक्तिके अनुसार जैन मार्गके अनुकूल तपस्या करना), साधु समाधि (तपस्वी मुनिके तपमें किसी कारण से कोई विघ्न आ कर ना जाये तो उसे दूर करके उनके संयम की रक्षा करना, वैयावृत्यकरण (गुणवान् साधुजनों पर विपत्ति आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना), अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति प्रवचन भक्ति। (अर्हन्त देव आचार्य उपाध्याय और आगमके विषयमें विशुद्ध भाव पूर्वक अनुराग होना), आवश्यकापरिहाणि (सामायिक, स्तवन,

वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक कर्मों में कभी हानि न आने देना और प्रतिदिन नियत समय पर उन्हें बराबर करना) मार्ग प्रभावना (सम्यग्ज्ञान के द्वारा, तपके द्वारा या जिनपूजा के द्वारा जगत में जैनधर्मका प्रकाश फैलाना), प्रवचन वत्सलत्व (जैसे गौ को अपने बच्चे से सहज स्नेह होता है वैसे ही साधर्मी जन को देखकर चित्त का प्रफुल्लित हो जाना) ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रव में कारण हैं । इन सबका अथवा इनमें से कुछ का पालन करने से तीर्थंकर नाम कर्म का आस्रव होता है किन्तु उनमें एक दर्शनविशुद्धि का होना आवश्यक है ॥२४॥

नीच गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं-

परात्मनिन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

अर्थ – दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के मौजूदा गुणों को भी ढांकना और अपने में गुण नहीं होते हुए भी उनको प्रकट करना, ऐसे भावों से नीच गोत्र का आस्रव होता है ॥२५॥

इसके बाद उच्च गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं-

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

अर्थ – नीच गोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत कारणों से तथा नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक से उच्चगोत्र का आस्रव होता है। अर्थात् दूसरों की प्रशंसा करना, अपनी निन्दा करना, दूसरों के अच्छे गुणों को प्रगट करना, और असमीचीन गुणों को ढांकना किन्तु अपने समीचीन गुणों को भी प्रकट न करना, गुणी जनों के सामने विनय से नम्र रहना और उत्कृष्ट ज्ञानी तपस्वी होते हुए भी घमंड का न होना, ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं ॥२६॥

क्रम प्राप्त अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं-

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

अर्थ – दान, लाभ भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का आस्रव होता है । अर्थात् दान देने में विघ्न करने से दानान्तराय कर्म का आस्रव होता है । किसी के लाभ में बाधा डालने से लाभान्तराय कर्म का आस्रव होता है । इसी तरह शेष में भी जानना चाहिये ।

शंका – आगम में कहा है कि जीव के आयु कर्म के सिवा शेष सात कर्मों का आस्रव सदा होता रहता है । तब प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण आदि कर्म का ही आस्रव कैसे हो सकता है?

समाधान – यद्यपि प्रदोष आदि से ज्ञानावरण आदि सभी कर्मों का प्रदेश बन्ध होता है । अर्थात् प्रदेश आदि से एक समय में जिस समय प्रबद्ध का आस्रव होता है उसके परमाणु आयु के सिवा शेष सातों कर्मों में बँट जाते हैं, तथापि यह कथत अनुभाग की अपेक्षा से है । अर्थात् प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण कर्म में फल देने की शक्ति अधिक पड़ती है दुःख देने से असाता वेदनीय कर्म में फल देने की शक्ति अधिक पड़ती है। वैसे बंध सातों ही कर्मों का होता है।

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः॥६॥

क्रोध संताप पैदा करता है, विनय और धर्म का नाश करता है, मित्रता का अंत करता है और उद्वेग पैदा करता है । यह नीच वचन कहलाता है, क्लेश कराता है, कीर्ति का नाश तथा दुर्गति उत्पन्न करता है । यह पुण्य का नाश करता है और मानव को कुगति देता है। ऐसे अनेक दोष इस क्रोध से उत्पन्न होते हैं । क्रोध से हानि प्रत्यक्ष है पर लाभ एक भी नहीं । महात्मा कहते हैं कि क्रोध त्याग से मोक्ष भी सुलभ है।

सप्तम अध्याय

आस्त्रव तत्त्वका कथन हो चुका। उसमें पुण्यकर्म के आस्त्रव का मामूली-सा कथन किया था। इस अध्यायमें उसका विशेष कथन करने के लिए व्रत का स्वरूप बतलाते हैं-

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

अर्थ - हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहसे विरत होनेको व्रत कहते हैं।

विशेषार्थ - हिंसा आदि पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं। इन पाँचों पापों का स्वरूप आगे बतलायेंगे। उनको त्यागने से अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत होते हैं। इन सबमें प्रधान अहिंसा व्रत है इसीसे उसे सब व्रतों के पहले रखा है। शेष चारों व्रत तो उसी की रक्षाके लिए हैं। जैसे खेत में धान बोने पर उसकी रक्षा के लिये चारों और बाड़ा लगा देते हैं वैसे ही सत्य आदि चार व्रत अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए बाड़ रूप हैं।

शंका - इन व्रतों को आस्त्रव का हेतु बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि आगे नौवें अध्याय में संवर के कारण बतलायेंगे। उनमें जो दश धर्म हैं उन दश धर्मों में से संयम धर्म में व्रतों का अन्तर्भाव होता है। अतः व्रत संवरके कारण हैं आस्त्रव के कारण नहीं हैं ?

समाधान - यह ठीक नहीं है, संवर तो निवृत्ति रूप होता है, उसका कथन आगे किया जायेगा। और ये व्रत निर्वृत्ति रूप नहीं हैं किंतु प्रवृत्ति रूप हैं। क्योंकि इनमें हिंसा, झूठ, चोरी वगैरह को त्यागकर अहिंसा करने का, सच बोलने का, दी हुई वस्तुको लेने का विधान है। तथा जो इन व्रतों का अच्छी तरह से अभ्यास कर लेता है वही संवर को आसानी से कर सकता है। अतः व्रतों को अलग गिनाया है ॥१॥

अब व्रतों के भेद बतलाते हैं-

देश-सर्वतोऽणु-महती ॥२॥

अर्थ - इन पाँचों पापों को एक देश से त्याग करने को अणुव्रत कहते हैं, और पूरी तरह से त्याग करने को महाव्रत कहते हैं ॥२॥

इन व्रतों की रक्षा के लिये आवश्यक भावनाओं को बतलाते हैं-

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

अर्थ - इन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं। उन भावनाओं का सदा ध्यान रहने से व्रत दृढ़ हो जाते हैं ॥३॥

सर्व प्रथम अहिंसा व्रत की भावनाएँ कहते हैं-

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्या
लोकितपानभोजनानिपञ्च ॥४॥

अर्थ - वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकित-पानभोजन ये पांच अहिंसा व्रतकी भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ - वचनकी प्रवृत्तिको अच्छी रीतिसे रोकना वचन गुप्ति है। मनकी प्रवृत्तिको अच्छी रीतिसे रोकना मनोगुप्ति है। पृथ्वी को देखकर सावधानता पूर्वक चलना ईर्यासमिति है। सावधानता पूर्वक देखकर वस्तुको उठाना और रखना आदान निक्षेपण समिति है। दिन में अच्छी तरह देख भाल कर खाना पीना आलोकित-पान भोजन है। इन पाँच बातों का ध्यान अहिंसा व्रती को रखना चाहिए ॥४॥

दूसरे सत्यव्रत की भावनाएँ कहते हैं-

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥५॥

अर्थ - क्रोध का त्याग, लोभका त्याग, भयका त्याग, हंसी दिल्लगी

का त्याग और हित- मित वचन बोलना, ये पाँच सत्य व्रत की भावना हैं। आशय यह है कि मनुष्य क्रोध से, लालच से, भय से, और हंसी करने के लिए झूंठ बोलता है। अतः इनसे बचते रहना चाहिये और जब बोले तो सावधानी से बोले जिससे कोई बात ऐसी न निकल जाये जो दूसरे को कष्ट कर हो ॥५॥

तीसरे अचौर्य व्रत की भावनाएं कहते हैं-

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-
भैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच ॥६॥

अर्थ – शून्यागार अर्थात् पर्वत की गुफा, वन और वृक्षों के कोटरो में निवास करना, विमोचितवास अर्थात् दूसरों के छोड़े हुए ऊजड़ स्थान में निवास करना, परोपरोधाकरण अर्थात् जहाँ आप ठहरे वहाँ यदि कोई दूसरा ठहरना चाहे तो उसे रोकना नहीं और जहाँ कोई पहले से ठहरा होतो उसे हटाकर स्वयं ठहरे नहीं, भैक्ष्य शुद्धि अर्थात् शास्त्रोक्त रीति से शुद्ध भिक्षा लेना और सधर्माविसंवाद अर्थात् साधर्मी भाइयों से लड़ाई झगड़ा नहीं करना ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं ॥६॥

इसके बाद ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ कहते हैं-

स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीर संस्कारत्यागाः पंच ॥७॥

अर्थ – स्त्रियों के विषय में राग उत्पन्न करने वाली कथा को न सुनना, स्त्रियों के मनोहर अंगों को न ताकना, पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करना, कामोद्दीपन करने वाले रसों का सेवन न करना और अपने शरीर को इत्र तेल वगैरह से न सजाना, ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ हैं ॥७॥

अन्त में परिग्रह त्याग व्रत की भावना कहते हैं-

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पंच ॥८॥

अर्थ – पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों से राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों से द्वेष नहीं करना ये पाँच परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएँ हैं ॥८॥

जैसे इन व्रतों को दृढ़ करने के लिए भावनाएँ कही हैं वैसे ही इन व्रतों के विरोधी जो हिंसा आदि हैं उनसे विमुख करने के लिए भी भावनाएं कहते हैं-

हिंसादीष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अर्थ – हिंसा आदि पाँच पाप इस लोक और परलोक में विनाशकारी तथा निन्दनीय हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये।

विशेषार्थ – अर्थात् हिंसा के विषय में विचारना चाहिये कि जो हिंसा करता है, लोग सदा उसके बैरी रहते हैं। इस लोक में उसे फांसी वगैरह होती है और मरकर भी वह नरक आदि में जन्म लेता है अतः हिंसा से बचना ही श्रेष्ठ है। इसी तरह झूठ बोलने वाले का कोई विश्वास नहीं करता। इसी लोक में पहले राजा उसकी जीभ कटा लेता था। तथा उसके झूठ बोलने से जिन लोगों को कष्ट पहुँचता है वे भी उसके दुश्मन हो जाते हैं और उसे भरसक कष्ट देते हैं। तथा मरकर वह अशुभगति में जन्म लेता है, अतः झूंठ बोलने से बचना ही उत्तम है। इसी तरह चोर का सब तिरस्कार करते हैं। इसी लोकमें उसे राजा की ओर से कठोर दण्ड मिलता है तथा मरकर भी अशुभगति में जाता है। अतः चोरीसे वचना ही उत्तम है। तथा व्यभिचारी मनुष्यका चित्त सदा भ्रान्त रहता है। जैसे जंगली हाथी जाली हथिनी के धोखे में पड़ कर पकड़ा जाता है वैसे ही व्यभिचारी भी जब पकड़ा जाता है तो उसकी पूरी दुर्गति लोग कर डालते हैं। पुराने जमाने में तो एसे आदमी का लिंग ही काट डाला जाता था। आजकल भी उसे कठोर दण्ड मिलता है। मर कर भी वह दुर्गति में जाता है अतः व्यभिचारसे बचना ही हितकर है। तथा जैसे कोई पक्षी माँसका टुकड़ा लिये हो तो अन्य पक्षी उसके पीछे पड़ जाते हैं, वैसे ही परिग्रही मनुष्य के पीछे चोर लगे रहते हैं। उसे धनके कमाने, जोड़ने और

उसकी रखवाली करने में भी कम कष्ट नहीं उठाना पड़ता । फिर भी उसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, तृष्णा के वशीभूत होकर उसे न्याय-अन्यायका ध्यान नहीं रहता । इसीसे मर कर वह दुर्गति में जाता है । यहाँ भी लोभी-लोभी कहकर लोग उसकी निन्दा करते हैं । अत: परिग्रह से वचना ही श्रेष्ठ है । इस तरह हिंसा आदि पापों की बुराई भी सोचते रहना चाहिये ॥९॥

और भी कहते हैं-

दु:खमेव वा ॥१०॥

अर्थ – हिंसा आदि पाप दु:ख रूप ही हैं ऐसी भावना रखना चाहिए। क्योंकि हिंसादि दु:ख के कारण हैं इसलिए दु:ख रूप ही हैं ॥१०॥

इसके सिवा अन्य भावनाएँ भी बताते हैं-

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमाना-विनेयेषु ॥११॥

अर्थ – समस्त प्राणियों में ऐसी (मैत्री) भावना रखना चाहिये कि किसी भी प्राणीको दु:ख न हो । गुणवान पुरुषों को देखकर हर्षित होना चाहिये और अपनी भक्ति प्रकट करना चाहिये । दु:खी प्राणियों को देखकर उनका दु:ख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये, और जो उद्धत लोग हैं उनमें माध्यस्थ भाव रखना चाहिये । ऐसा करने से अहिंसा आदि व्रत परिपूर्ण होते हैं ॥११॥

अन्य भावनाओं का निर्देश करते हैं-

जगत्कायस्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ॥१२॥

अर्थ – संवेग और वैराग्यके लिए जगत् का और शरीरका स्वभाव विचारते रहना चाहिये ।

विशेषार्थ – यह लोक अनादि-निधन है । वेतके आसन के ऊपर एक गोल झांझ रखो और उसपर मृदंग खड़ा करो, ऐसा ही लोक का आकार है । इसमें भटकते हुए जीव अनन्तकालसे नाना योनियों में दु:ख भोग रहे हैं । यहाँ कुछ भी नियत नहीं है । जीवन जलके बुलबुले के समान है, भोग सम्पदा बिजली की तरह चञ्चल है । इस तरह जगत् का स्वभाव विचारने से संसार से अरुचि पैदा होती है । इसी तरह यह शरीर अनित्य है, दु:ख का कारण है, निसार है, अपवित्र है, इत्यादि कायकास्वरूप विचारने से विषयों में राग नहीं होता । अत: व्रतीको जगत् का और कायका स्वभाव भी विचारते रहना चाहिये ॥१२॥

अब हिंसाका लक्षण कहते हैं-

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अर्थ – प्रमादीपने से प्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं ।

विशेषार्थ – हिंसा दो प्रकारकी है- एक द्रव्य हिंसा, दूसरी भाव हिंसा । संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं । किंतु उनके मर जानेसे ही हिंसा नहीं हो जाती । इसीसे सूत्र में 'प्रमत्त योगात्' पद दिया है । यह बतलाता है कि जो मनुष्य जीवों की हिंसा करने के भाव नहीं रखता, बल्कि उनको बचाने के भाव रखता है उसके द्वारा जो हिंसा होती है उसका पाप उसे नहीं लगता । इसीसे कहा है कि 'प्राणों को घात कर देने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता ।' शास्त्रकारोंने इस बातको एक दृष्टांत के द्वारा और भी स्पष्ट किया है । वे लिखते हैं- एक मनुष्य देख देखके चल रहा है । उसके पैर उठाने पर कोई क्षुद्र जन्तु उसके पैर के नीचे अचानक आ जाता है और कुचल कर मर जाता है; तो उस मनुष्यको उस जीवके मारने का थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता । इसके विपरीत यदि कोई असावधानी से मार्ग में चलता है तो उसके द्वारा किसी जीवका घात हो या न हो, उसे हिंसाका पाप अवश्य लगता है । जैसा कि

कहा है- जीव जिये या मरे जो अत्याचारी है उसे हिंसा का पाप अवश्य लगता है। किंतु जो यत्नाचार से काम करता है उसे हिंसा होने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता। अतः हिंसा रूप परिणाम ही वास्तव में हिंसा है। द्रव्य हिंसा को तो केवल इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भाव हिंसा के साथ संबंन्ध हैं। किन्तु द्रव्या हिंसा होने पर भाव-हिंसाका होना अनिवार्य नहीं हैं। जैनेतर धर्मो में द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा को अलग अलग न मानने से ही निम्न शंका की गयी है कि जल में जन्तु हैं थल में जन्तु हैं, और पहाड़ की चोटी पर चले जाओ तो वहाँ भी जन्तु हैं। इस तरह जब समस्त लोक जन्तुओं से भरा हुआ है तो कोई अहिंसक कैसे हो सकता है ? जैन धर्ममें इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है- ''जीव दो प्रकारके होते हैं सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म तो न किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं अतः उनका तो कोई प्रश्न ही नहीं। रहे स्थूल, सो जिनकी रक्षा करना संभव है उनकी रक्षा की जाती है। अतः संयमी पुरुष को हिंसा का पाप कैसे लग सकता है ?'' ॥१३॥

अनृतका लक्षण कहते हैं-

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

अर्थ - जिससे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती हो, वह बात सच्ची हो अथवा झूठी हो उसका कहना अनृत अथवा असत्य है। जैसे काने मनुष्यको काना कहना झूठ नहीं है फिर भी इससे उसको पीड़ा पहुँचती है इसलिए ऐसा कहना असत्य ही है। आशय यह है तथा जैसा पहले ही लिख आये हैं कि प्रधान व्रत अहिंसा है। बाकी के चार व्रत उसीके पोषण और रक्षण के लिए हैं। अतः जो वचन हिंसाकारक है वह असत्य है ॥१४॥

क्रम प्राप्त चोरीका लक्षण कहते हैं-

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थ - बिना दी हुई वस्तुका लेना चोरी है। यहाँ भी प्रमत्त योगात्

इत्यादि सूत्र से प्रमत्तयोग पदकी अनुवृत्ति होती है। अतः बुरे भाव से जो परायी वस्तुको उठा लेने में प्रवृत्ति की जाती है वह चोरी है। उस प्रवृत्ति के बाद चाहे कुछ हाथ लगे या न लगे, हर हालत में उसे चोरी ही कहा जायेगा ॥१५॥

इसके बाद अब्रह्मका लक्षण बतलाते हैं-

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

अर्थ - चारित्र मोहनीय का उदय होने पर राग भाव से प्रेरित होकर स्त्री-पुरूष का जोडा जो रति सुख के लिए चेष्टा करता है उसे मैथुन कहते हैं। मैथुन को ही अब्रह्म कहते हैं। कभी- कभी दो पुरूषों में अथवा दो स्त्रियों में भी इस प्रकार की कुचेष्टा देखी जाती है। कभी- कभी अकेला एक पुरूष ही काम से पीडित होकर कुचेष्टा कर बैठता है। वह सब अब्रह्म है। जिसके पालन से अहिंसा आदि धर्मो की वृद्धि होती है उसे ब्रह्म कहते हैं और ब्रह्म का नही होना अब्रह्म है। यह अब्रह्म सब पापों का पोषक है ; क्योकि मैथुन करनेवाला हिंसा करता है, उसके लिए झूठ बोलता है, चोरी करता है, और विवाह करके गृहस्थी बसाता है ॥१६॥

अब परिग्रह का लक्षण कहते हैं -

मूर्छा परिग्रह : ॥१७॥

अर्थ - बाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता, वगैरह चेतन-अचेतन वस्तुओं में तथा आन्तरिक राग, द्वेष, काम, क्रौधादि विकारों में जो ममत्व भाव है, कि ये मेरे हैं, इस भाव का नाम मूर्छा है और मूर्छा ही परिग्रह है। वास्तव में अभ्यन्तर ममत्व भाव ही परिग्रह है क्योंकि पास मे एक पैसा न होने पर भी जिसे दुनिया भर की तृष्णा है वह परिग्रही है। बाह्य वस्तुओं को तो इसलिए परिग्रह कहा है कि वे ममत्व भाव के होने मे कारण होती हैं।

अब व्रती का स्वरूप कहते हैं-

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

अर्थ – जो शल्य रहित हो उसे व्रती कहते हैं ।

विशेषार्थ – शरीर में घुसकर तकलीफ देनेवाले कील कांटे आदि को शल्य कहते हैं । जैसे कील कांटा कष्ट देता है वैसे ही कर्म के उदय से होनेवाला विचार भी जीव को कष्टदायक है, इसलिए उसे शल्य नाम दिया गया है । वे शल्य तीन हैं- माया, मिथ्यात्व और निदान । मायाचार या धूर्तता को माया कहते हैं । मिथ्या तत्वों का श्रद्धान करना कुदेवों को पूजना मिथ्यात्व है । विषयभोग की चाह को निदान कहते हैं । जो इन तीनों शल्यों को हृदय से निकाल कर व्रतों का पालन करता है वही व्रती है। किन्तु जो दुनिया को ठगने के लिए व्रत लेता है, या व्रत ले कर यह सोचता रहता है कि व्रत धारण करने से मुझे भोगने के लिए अच्छी अच्छी देवांगनाएँ मिलेंगी, या जो व्रत लेकर भी मिथ्यात्व में पड़ा है वह कभी भी व्रती नही हो सकता ॥१८॥

आगे व्रतों के भेद बतलाते हैं-

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अर्थ – व्रती के दो भेद हैं – एक अगारी यानी गृहस्थ श्रावक और दूसरा अनगारी यानी गृह त्यागी साधु ।

शंका – एक साधु किसी देवालय में या खाली पड़े घर में आकर ठहर गये तो वे अगारी हो जायेंगे । क्या एक गृहस्थ अपनी स्त्री से झगड़ कर जंगल में जा बसा तो वह अनगारी कहलायेगा?

समाधान – अगार यद्यपि मकान को कहते हैं किन्तु यहाँ बाहरी मकान न लेकर मानसिक मकान लेना चाहिये । अतः जिस मनुष्य के मन में घर बसा कर रहने की भावना है वह भले ही जंगल मे चला जाये, अगारी ही कहा जायेगा । और जिसके मनमे वैसी भावना नहीं है वह कुछ समय के लिये किसी मकान में ठहरने पर भी अगारी नही कहा जायेगा ॥१९॥

क्रमशः अगारी व्रती का स्वरूप बतलाते हैं -

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थ – जो पाँचो पापों का एक देश से त्याग करता है उस अणुव्रती को अगारी कहते हैं । अर्थात त्रस जीवों की हिंसा करने का त्याग करना प्रथम अणुव्रत है । राग, द्वेष अथवा मोह के वशीभूत होकर ऐसा वचन न बोलना जिससे किसी का घर बरबाद हो जाये या गांव पर मुसीबत आ जाये, दूसरा अणुव्रत है । जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे अथवा जिसमें राजदण्ड का भय हो ऐसी बिना दी हुई वस्तु को न लेने का त्याग तीसरा अणुव्रत है । विवाहित या अविवाहित पर स्त्री के साथ भोग का त्याग चौथा अणुव्रत है । धन, धान्य, जमीन जायदाद वगैरह का आवश्कयता के अनुसार एक प्रमाण निश्चित कर लेना पाँचवा अणुव्रत है । जो इन पाँचों अणुव्रतों को भी नियम पूर्वक पालता है वही अगारी व्रती है ॥२०॥

अगारी व्रती के जो और व्रत हैं उन्हे कहते हैं -

दिग्देशानर्थण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग परिभोगपरिमाणा तिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

अर्थ – दिग्विरति, देशविरति, अनर्थ-दण्ड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण और अतिथि-संविभाग इन सात व्रतों से सहित गृहस्थ अणुव्रती होता है ।

विशेषार्थ – पूर्व आदि दिशाओं में नदी ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बांध कर जीवन पर्यन्त उससे बाहर न जाना और उसीके भीतर लेन देन करना दिग्विरति व्रत है । इस व्रत के पालने से गृहस्थ मर्यादा के बाहर किसी भी तरह की हिंसा नही करता । इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा से वह महाव्रती सा हो जाता है । तथा मर्यादा के बाहर व्यापार करने से प्रभूत लाभ होने पर भी व्यापार नही करता है अतः लोभ की भी कमी होती है । दिग्विरति व्रत की मर्यादा के भीतर कुछ समय के

लिए देश का परिमाण कर लेने को देश-विरति व्रत कहते हैं। इसमें भी उतने समय के लिए श्रावक मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में महाव्रती के तुल्य हो जाता है। जिससे अपना कुछ लाभ तो न हो ओर व्यर्थ ही पाप का संचय होता हो ऐसे कामों को अनर्थ-दण्ड कहते हैं और उनके त्याग को अनर्थ-दण्ड विरति कहते हैं। अनर्थ दण्ड के पाँच भेद हैं-अपध्यान, पापोदेश, प्रमादाचरित, हिंसादान ओर अशुभश्रुति। दूसरों का बुरा विचारना कि अमुक की हार हो, अमुक को जेलखाना हो जाये, उसका लडका मर जाये, यह सब अपध्यान है। दूसरों को पाप का उपदेश देना यानी ऐसे व्यापार की सलाह देना जिससे प्राणियों को कष्ट पहुँचे अथवा युद्ध वगैरह के लिए प्रोत्साहन मिले, पापोपदेश है। बिना जरूरत के जंगल कटवाना, जमीन खुदवाना, पानी खराब करना आदि प्रमादाचरित है। विषैली गैस, अस्त्र, शस्त्र आदि हिंसा की सामग्री देना हिंसादान है। हिंसा और राग आदि को बढाने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना, सुनाना आदि अशुभश्रुति है। इस प्रकार के अनर्थ-दण्डों का त्याग करना अनर्थ-दण्ड विरति है। तीनो सन्ध्यायों में समस्त पाप के कर्मों से विरत होकर नियत स्थान पर नियत समय के लिए मन, वचन और काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। जितने समय तक गृहस्थ सामायिक करता है उतने समय के लिए वह महाव्रती के समान हो जाता है। प्रोषध नाम पर्व का है। जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से निवृत्त होकर उपवासी रहती हैं, उसे उपवास कहते हैं। प्रोषध अर्थात पर्व के दिन उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। मोटे तौर पर तो चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है किन्तु यर्थाथ में तो सभी इन्द्रियों का विषय भोग से निवृत्त रहना ही उपवास है। इसी के लिए भोजन का त्याग किया जाता है। अत: उपवास के दिन श्रावक को सब आरम्भ छोड़ कर और स्नान, तेल, फुलेल, आदि न लगा कर चैतालय में अथवा साधुओं के निवास स्थान पर या अपने ही घर के किसी एकान्त स्थान पर धर्मचर्चा

करते हुए उपवास का समय बिताना चाहिये। खानपान, गन्ध माला वगैरह को उपभोग कहते हैं और वस्त्र, आभरण अलंकार, सवारी, मकान वगैरह को परिभोग कहते हैं। कुछ समय के लिए अथवा जीवन्त पर्यन्त के लिए उपभोग और परिभोग का परिमाण करना कि मैं इतने समय तक इतनी वस्तुओं से ही अपना काम चलाऊँगा, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है। जो अपने संयम की रक्षा करते हुए विहार करता है उसे अतिथि कहते हैं। अथवा जिसके आने का कोई दिन निश्चित नही हैं वह अतिथि है। मोक्ष के लिए तत्पर संयमी अतिथि को शुद्ध चित्त से निर्दोष भिक्षा देना अतिथि संविभाग व्रत है। ऐसे अतिथियों को आवश्यकता पड़ने पर योग्य औषधि देना, रहने को स्थान देना, धर्म के उपकरण पीछी, कमण्डलु और शास्त्र वगैरह देना भी इसी व्रत में सम्मिलित हैं। इस सूत्र में 'च' शब्द गृहस्थ के आगे कहे जानेवाले सल्लेखना धर्म को ग्रहण करने के लिए दिया है ॥२१॥

अत: सल्लेखना का निरूपण करते हैं -

मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

अर्थ - मरण काल उपस्थित होने पर गृहस्थ को प्रीति पूर्वक सल्लेखना करना चाहिये।

विशेषार्थ - सम्यक रीति से काय को और कषाय को क्षीण करने का नाम सल्लेखना है। जब मरण काल उपस्थित हो तो गृहस्थ को सबसे मोह छोड़कर धीरे-धीरे खाना पीना भी छोड देना चाहिये और इस तरह शरीर को कृश करने के साथ ही कषायों को भी कृश करना चाहिये तथा धर्मध्यान पूर्वक मृत्यु का स्वागत करना चाहिये।

शंका - इस तरह जान बूझकर मौत को बुलाना क्या आत्मवध नहीं कहा जायेगा ?

समाधान - नहीं, जब मनुष्य या स्त्री रागवश या द्वेषवश जहर खा

कर, कुँए या नदी मे डूबकर या फाँसी लगा कर अपना घात करते हैं तब आत्मघात होता है । किन्तु सल्लेखना में यह बात नही है । जैसे, कोई व्यापारी नहीं चाहता कि जिस घर में बैठ कर वह सुबह से शाम तक धन संचय करता है वह नष्ट हो जाये । यदि उसके घर मे आग लग जाती है तो भरसक उसको बुझाने की चेष्टा करता है । किन्तु जब देखता है कि घर को बचाना असम्भव है तो फिर घर की परवाह न करके धन को बचाने की कोशिश करता है । इसी तरह गृहस्थ भी जिस शरीर के द्वारा धर्म को साधता है उसका नाश नहीं चाहता । यदि उसके नाश के कारण रोग आदि उसे सताते हैं, अपने धर्म के अनुकूल साधनों से उन रोग आदि को दूर करने की भरसक चेष्टा करता है । किन्तु जब कोई उपाय कारगर होता नही दिखायी देता और मृत्यु के स्पष्ट लक्षण दिखायी देते हैं तब वह शरीर की परवाह न करके अपने धर्म की रक्षा करता है । ऐसी स्थिति में सल्लेखना को आत्मवध कैसे कहा जा सकता है ? ॥२२॥

इसके आगे व्रत दूषक कार्यों का विवेचन करने के लिए सब से पहिले सम्यक्त्व के पाँच अतिचार कहते हैं -

शंका- कांक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-
संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥२३॥

अर्थ – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि- प्रशंसा, अन्य दृष्टि - संस्तव, ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं ।

विशेषार्थ – अरहन्त भगवान के द्वारा कहे गये तत्वों में यह शङ्का होना कि ये ठीक हैं या नहीं, शङ्का है । अथवा अपनी आत्मा को अखण्ड अविनाशी जान कर भी मृत्यु वगैरह से डरना सो शङ्का है । इस लोक या परलोक में भोगों की चाह को कांक्षा कहते हैं । दुःखी, दरिद्री, रोगी, आदि को देखकर उससे धृणा करना विचिकित्सा है । मिथ्या दृष्टि के ज्ञान, तप वगैरह की मन मे सराहना करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और वचन

से तारीफ करना संस्तव है । ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार यानी दोष हैं।

इसी तरह व्रत और शीलों के अतिचारों की विधि कहते हैं -

व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रम् ॥२४॥

अर्थ – अहिंसादिक अणुव्रतों में और दिग्विरति आदि शीलों मे क्रम से पाँच-पाँच अतिचार कहते हैं ।

शंका – व्रत और शील में क्या अन्तर है ?

समाधान – जो व्रतों की रक्षा के लिए होते हैं उन्हे शील कहते हैं ॥२४॥

प्रारम्भ मे अहिंसा अणुव्रत के अतिचार कहते हैं-

बन्ध-वध-च्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अर्थ – बन्ध, वध, च्छेद, अतिभार-आरोपण और अन्नपान-निरोध ये पाँच अहिंसा अणुव्रत के अतिचार हैं ।

विशेषार्थ – प्राणी को रस्सी सांकल वगैरह से बांधना या पिंजरे मे बन्द कर देना, जिससे वह अपनी इच्छानुसार न जा सके सो बंध है । लाठी, डण्डे और कोडे वगैरह से पीटना वध है । पूंछ कान आदि अवयवों को काट डालना छेद है । मनुष्य या पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना अथवा शक्ति से बाहर काम लेना अति-भारारोपण है । उन्हें समय पर खाना पीना न देना अन्न-पान-निरोध है । ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥२५॥

अब सत्य अणुव्रत के अतिचार कहते हैं -

मिथ्योपदेश- रहोभ्याख्यान- कूटलेखक्रिया-
न्यासापहार- साकारमंत्रभेदाः ॥२६॥

अर्थ – मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख-क्रिया, न्यासा पहार और साकार-मन्त्र भेद ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं ।

विशेषार्थ – झूठ और अहितकर उपदेश देना मिथ्योपदेश है । स्त्री और पुरुष के द्वारा एकान्त में की गयी क्रिया को प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है । किसी का दबाव पड़ने से ऐसी झूठी बात लिख देना, जिससे दूसरा फँस जाये सो कूटलेख क्रिया है । कोई आदमी अपने पास कुछ धरोहर रख जाये और भूल से कम मांगे तो उसको उसकी भूल न बताकर जितनी वह माँगे उतनी ही दे देना न्यासापहार है । चर्चा वार्ता से अथवा मुख की आकृति वगैरह से दूसरे के मन की बात को जान कर लोगों पर इसलिए प्रकट कर देना कि उसकी बदनामी हो सो साकार-मंत्र भेद है । ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं॥२६॥

आगे अचौर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं -

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-
हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

अर्थ – स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक-मनोन्मान और प्रतिरूपक-व्यवहार ये पाँच अचौर्याणु व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ – चोर को चोरी करने की स्वयं प्रेरणा करना, दूसरे से प्रेरणा करवाना, करता हो तो उसकी सराहना करना, स्तेन प्रयोग है । जिस चोर को चोरी करने की न तो प्रेरणा ही की और न अनुमोदना ही की ऐसे किसी चोर से चोरी का माल खरीदना तदाहृतादान है । राज नियम के विरुद्ध चोरबाजारी वगैरह करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है । तोलने के बाँटों को मान कहते है और तराजु को उन्मान कहते हैं । बाट तराजु दो तरह के रखना, कमती से दूसरो को देना और अधिक से स्वयं लेना हीनाधिक मानोन्मान है । जाली सिक्के ढालना अथवा खरी बस्तु में खोटी वस्तु मिलाकर बेचना प्रतिरूपक व्यवहार है । ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं ॥२७॥

क्रम प्राप्त ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं -

परविवाहकरणेत्वरिका-
परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा-
कामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अर्थ – पर विवाह करण, अपरिगृहीत इत्वरीका गमन, परिगृहीत इत्वरिका गमन, अनङ्गक्रीड़ा और काम तीव्राभिनिवेश, ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ – कन्या के वरण करने को विवाह कहते हैं । दूसरों का विवाह करना पर-विवाह करण है । व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं । वह दो प्रकार की होती है - एक जिसका कोई स्वामी नहीं है और दूसरी जिसका कोई स्वामी है । इन दोनों प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्रियो के यहाँ जाना, उनसे बातचीत लेन-देन वगैरह करना अपरिगृहीत और परिगृहीत इत्वरिका गमन है । काम सेवन के अंगो को छोडकर अन्य अंगो से रति करना अनङ्ग क्रीड़ा है । काम सेवन की अत्यधिक लालसा को काम-तीव्राभिनिवेश कहते है । ये पाँच अतिचार ब्रह्मर्याणुव्रत के हैं ।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं -

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-
दासीदास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

अर्थ – क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), हिरण्य (चाँदी), सुवर्ण (सोना), धन (गाय बैल), धान्य (अनाज), दासी दास (टहल चाकरी करनेवाले स्त्री पुरुष) और कुप्य (सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र व वर्तन वगैरह) इन सब के किये हुए परिमाण को लोभ में आकर बढ़ा लेना परिग्रह -परिमाण व्रत के अतिचार हैं । सभी व्रतों के अतिचार छोडने पर ही व्रतों का निर्दोष पालन हो सकता है ॥२९॥

अन्य व्रतों में दिग्विरति के अतिचार कहते है-

ऊ ध्र्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ।।३०।।

अर्थ – ऊ ध्र्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पाँच दिग्विरति व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ – दिशाओं की परिमित मर्यादा के लाँघने को अतिक्रम कहते हैं। संक्षेप से उसके तीन भेद हैं- पर्वत या अमेरिका के ऐसे ऊँचे मकान वगैरह पर चढ़ने से ऊर्ध्वातिक्रम अतिचार होता है। कुएँ वगैरह में उतरने से अधोऽतिक्रम होता है और पर्वत की गुफा वगैरह में चले जाने से तिर्यगतिक्रम होता है। दिशाओं का जो परिमाण किया है, लोभ में आकर उससे अधिक क्षेत्र में जाने की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है। की हुई मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है ॥३०॥

इसके बाद देशव्रत के अतिचार कहते हैं -

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ।।३१।।

अर्थ – आनयन (अपने संकल्पित देश में रहते हुए मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को किसी के द्वारा मंगाना), प्रेष्य प्रयोग (मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में किसी को भेजकर काम करा लेना), शब्दानुपात (मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में काम करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके खांसना वगैरह, जिससे वे आवाज सुनकर जल्दी- जल्दी काम करें, रूपानुपात (मर्यादा के बाहर काम करने वाले पुरुषों को अपना रूप दिखाकर काम कराना), पुद्गलक्षेप (मर्यादा के बाहर पत्थर वगैरह फैंककर अपना काम करा लेना) ये पाँच देशविरति व्रत के अतिचार हैं ॥३१॥

आगे अनर्थ दण्ड विरति व्रत के अतिचार कहते हैं -

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग परिभोगानर्थक्यानि ।।३२।।

अर्थ – कन्दर्प (राग की अधिकता होने से हास्य के साथ अशिष्ट वचन बोलना), कौत्कुच्य (हास्य और अशिष्ट वचन के साथ शरीर से भी कुचेष्टा करना), मौखर्य (धृष्टतापूर्वक बहुत बकवास करना), असमीक्ष्याधिकरण(बिना विचारे अधिक प्रवृति करना), उपभोगपरिभोगानर्थक्य (जितने उपभोग और परिभोग से अपना काम चल सकता हो उससे अधिक का संग्रह करना) ये पाँच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं ॥३२॥

क्रम प्राप्त सामायिक के अतिचार कहते हैं-

योगदुष्प्रणिधानानादर- स्मृत्यनुपस्थानानि ।।३३।।

अर्थ – काय दुष्प्रणिधान (सामायिक करते समय शरीर को निश्चल न रखना), वाग्दुष्प्रणिधान (सामायिक के मंत्र को अशुद्ध और जल्दी जल्दी बोलना), मनो दुष्प्रणिधान, (सामायिक में मन को न लगाना), अनादर (अनादर पूर्वक सामायिक करना), स्मृत्यनुपस्थापन (चित की चंचलता से पाठ वगैरह को भूल जाना) ये पाँच सामायिक के अतिचार हैं ॥३३॥

आगे प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार कहते हैं -

*अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-
संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि।।३४।।*

अर्थ – अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग (जन्तु हैं या नहीं, यह बिना देखे और भूमि को कोमल कूंची वगैरह से बिना साफ किये जमीन पर मल मूत्र वगैरह करना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान (बिना देखे और बिना शोधे पूजा की सामग्री और अपने पहिनने के वस्त्र वगैरह उठा लेना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण (बिना देखी और बिना साफ की हुई भूमि पर चटाई वगैरह बिछाना), अनादर (उपवास के

कारण भूख प्यास के कारण पीडित होने से आवश्यक क्रियाओ में उत्साह न होना), स्मृत्यनुपस्थापन (आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना), ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं ॥३४॥

इसके बाद भोगपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं -

सचित-सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दु:पक्वाहार: ॥३५॥

अर्थ – सचित्त आहार (सचेतन पुष्प पत्र फल वगैरह का खाना), सचित्तसम्बन्ध आहार (सचित्त से मिली हुई वस्तु को खाना), अभिषव आहार (इन्द्रियों को मद करनेवाली वस्तु को खाना), दुष्पक्काहार (ठीक रीतिसे नहीं पके हुए भोजन को करना), ये पाँच भोगपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं। इस तरह का आहार करने से इन्द्रियाँ प्रबल हो सकती हैं, शरीर में रोग हो सकता है, जिससे उपभोग-परिभोग के किये हुए परिमाण में व्यतिक्रम होने की संभावना है ॥३५॥

क्रम प्राप्त अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार कहते हैं-

सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश- मात्सर्य-
कालातित्र मा: ॥३६॥

अर्थ – सचित्तनिक्षेप (सचित्त कमल के पत्ते वगैरह पर रख कर आहार दान देना), सचित्त अपिधान (आहार को सचित्त पत्ते वगैरह से ढ़क देना), परव्यपदेश (स्वयं दान न देकर दूसरे से दिलवाना अथवा दूसरे का द्रव्य उठा कर स्वयं दे देना), मात्सर्य (आदर पूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना), कालातिक्रम (मुनियों को अयोग्य काल में भोजन कराना), ये पाँच अतिथि-संविभाग व्रत के अतिचार हैं ॥३६॥

अन्त मे सल्लेखना के अतिचार कहते हैं-

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-
सुखानुबन्ध-निदानानि ॥३७॥

अर्थ – जीविताशंसा (सल्लेखना करके जीने की इच्छा करना), मरणाशंसा (रोग आदि के कष्ट से घबरा कर जल्दी मरने की इच्छा करना), मित्रानुराग (जिनके साथ खेले थे उन मित्रों का स्मरण करना), सुखानुबन्ध (भोगे हुए सुखों को याद करना), निदान (आगे के भोगों की चाह होना), ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं ॥३७॥

अब दान का लक्षण कहते हैं-

अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

अर्थ – अपने और दूसरों के उपकार के लिए धन वगैरह का देना सो दान है। अर्थात् दान देने से दाता को पुण्य बन्ध होता है और जिसे दान दिया जाता है उस पात्र के धर्म साधन में उससे सहायता मिलती है। इन्हीं दो भावनाओं से दिया गया दान वास्तव मे दान है ॥३८॥

दान के फल मे विशेषता कैसे होती है सो बतलाते हैं -

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषात्तद्विशेष: ॥३९॥

अर्थ – विधि द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान मे विशेषता होती है। आदरपूर्वक नवधा भक्ति से आहार देना विधि की विशेषता है। तप, स्वाध्याय आदि में जो सहायक हो ऐसा सात्विक आहार आदि देना द्रव्य की विशेषता है। किसी से ईर्ष्या न करना, देते हुए खेद न होना आदि दाता की विशेषता है और पात्र का विशिष्ट ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी होना, ये पात्र की विशेषता है। इन विशेषताओं से दान मे विशेषता होती है। और दान में विशेषता होने से उसके फल में विशेषता होती है॥३९॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्याय : ॥७॥

अष्टम अध्याय

आस्त्रव तत्त्व का व्याख्यान हो चुका ।

अब बन्ध का व्यारव्यान करना है अत: पहले बन्ध के कारणों को बतलाते हैं-

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतव: ॥१॥

अर्थ – मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के कारण हैं ।

विशेषार्थ – पहले कह आये हैं कि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं । उससे उल्टा यानी अतत्त्वों के श्रद्धान को या तत्त्वों के अश्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं । उसके दो भेद हैं – मिथ्यात्व कर्म के उदय से दूसरे के उपदेशों के बिना ही जो मिथ्या श्रद्धान होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है । इसको अगृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं , यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवों के पाया जाता है । जो मिथ्यात्व दूसरों के उपदेश से होता है वह परोपदेश पूर्वक या गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है । इसके पाँच भेद हैं- एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान। अनेक धर्मरूप वस्तु को एक धर्मरूप ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है । जैसे, वस्तु सत् ही है, या असत् ही है, या नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा मानना एकान्त मिथ्यात्व है । हिंसा में धर्म मानना, परिग्रह के होते हुए भी अपने को निष्परिग्रही कहना विपरीत मिथ्यात्व है । सम्यग्दर्शन, समयग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं या नहीं इस द्विविधा को संशय मिथ्यात्व कहते हैं । सब देवताओं को, सब धर्मो को और सब साधुओं को समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है । हित और अहित का विचार न कर सकना अज्ञान मिथ्यात्व है । छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग न करना और पाँचो इन्द्रियों का तथा मन को विषयों में जाने से नहीं रोकना, सो बारह

प्रकार की अविरति है । शुभ कार्यों मे आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं । उसके पन्द्रह भेद हैं- स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा और राज कथा ये चार कुकथाएँ, क्रोध, मान, माया और लोभ मे चार कषायें, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा, और स्नेह । सोलह कषाय और नव नोकषाय ये पच्चीस कषायें हैं । चार मनोयोग, चार वचन योग और सात काय योग ये पन्द्रह योग हैं । ये सब मिल कर भी तथा अलग-अलग भी बन्ध के कारण होते हैं । सो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तो पाँचो हो बंध के कारण होते हैं । सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि नाम के दूसरे तीसरे और चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड कर शेष चार बन्ध के कारण हैं। संयतासंयत नाम के पाँचवे गुणस्थान में अविरति और विरति तो मिली हुई है, क्योकि उसमें त्रस हिंसा का त्याग तथा यथाशक्ति इन्द्रिय निरोध होता है किन्तु शेष तीन कारण पूरे हैं । प्रमत्त – संयत नाम के छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग तीन कारण रहते हैं । अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें तक कषाय और योग दो ही कारण रहते हैं । उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली नाम के ग्यारहवें, बारहवें, और तेरहवें गुणस्थानों में केवल एक योग ही होता है । चौदहवे अयोग केवली गुणस्थान मे बंध का एक भी कारण नहीं हैं ॥१॥

अब बन्ध का स्वरूप कहते हैं -

सकषयात्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान्
पुदगलानादत्ते सबन्ध: ॥२॥

अर्थ – कषाय सहित होने से जीव जो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है उसे बन्ध कहते हैं ।

विशेषार्थ – समस्त लोक पुद्गलो से ठसाठस भरा हुआ है । वे पुद्गल अनेक प्रकार के हैं । उनमें अनन्तानन्त पुदगल परमाणु कर्म रूप होने के योग्य हैं । जब कषाय से संतप्त संसारी जीव योग के द्वारा हलन

चलन करता है तो सब ओर से कर्मयोग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है। जैसे आग से तपा हुआ लोहे का गोला जल मे पड कर सब ओर से पानी को खींचता है वैसे ही आत्मा योग और कषाय के द्वारा कर्म योग्य पुदगलों को ग्रहण करता है इसीका नाम बन्ध है। इस सूत्र मे 'कर्मयोग्यान' न कहकर जो 'कर्मणो योग्यान' कहा है उससे इस सूत्र में एक विशेष बात बतलायी है। वह यह है कि जीव कर्म की जगह से सकषाय होता है और कषाय सहित होने से कर्म के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है। इससे यह बतलाया है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है। पूर्व बद्ध कर्म का उदय आने पर जीव में कषाय पैदा होती है और कषाय पैदा होने से नवीन कर्मों का बन्ध होता है। इस तरह कर्म को कषाय और कषाय से कर्म की परम्परा अनादि काल से चली आती है। यदि ऐसा न मानकर बन्ध को सादि माना जाये, अर्थात यह माना जाये कि पहले जीव अत्यन्त शुद्ध था, पीछे उसके कर्म बन्ध हुआ तो जैसे अत्यन्त शुद्ध मुक्त जीवों के कर्म बन्ध नही होता वैसे ही जीव के भी कर्म बन्ध नहीं हो सकेगा। अतः यह मानना पड़ता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। जैसे खाया हुआ भोजन उदराग्नि के अनुसार खल भाग और रस भाग रूप हो जाता है वैसे ही तीव्र, मन्द या मध्यम जैसी कषाय होती है उसी के अनुसार कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ता है। तथा जैसे आतशी काँच के वर्तन में पड़े अनेक प्रकार के रस, बीज, फूल और फल गर्मी खा कर शराब रुप हो जाते हैं वैसे ही आत्मा में स्थित पुदगल परमाणु योग और कषाय की वजह से कर्म रूप हो जाते हैं। इसी को बन्ध कहते हैं ॥२॥

इसके बाद बन्ध के भेद कहते हैं -

प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

अर्थ - प्रकृति बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध ये बंध के चार भेद हैं।

विशेषार्थ - प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। जैसे नीम का स्वभाव कडुआपन है, गुड का स्वभाव मीठापन है। इसी तरह ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढाँकना है , दर्शनावरण का स्वभाव वस्तु के सामान्य प्रतिभास को न होने देना है, वेदनीय का स्वभाव सुख-दुःख का वेदन है। दर्शन मोह का स्वभाव तत्वार्थ का श्रद्धान न होने देना है। चारित्र मोह का स्वभाव संयम को रोकना है। आयु का स्वभाव जीव को किसी एक भव में रोके रखना है, नाम कर्म का स्वभाव नारक तिर्यञ्च आदि कहलाना है। गोत्र का स्वभाव ऊँच नीच व्यवहार कराना है। अन्तराय का स्वभाव दान वगैरह मे विध्न डालना है। कर्मरूप पुद्‌गल परमाणुओं में इस प्रकार के स्वभाव पड़ना प्रकृति बन्ध है। तथा इस स्वभाव का न छूटना स्थिति है। जैसे बकरी, गाय, भैंस, वगैरह का दूध जब तक अपने मिष्ट स्वभाव को नहीं छोडता तब तक उसकी स्थिति कहलाती है। वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्म जितने समय तक अपने स्वभाव को नही छोडते तब तक कर्मरूप बने रहते हैं, उतनी उनकी स्थिति होती है। इस स्थिति के बंधने को स्थिति बंध कहते हैं। तथा जैसे बकरी, गो और भैंस के दूध मे कम ज्यादा शक्ति होती है वैसे ही कर्मों में जो तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति पड़ती है उसे अनुभव या अनुभाग बंध कहते हैं। जो पुदगल स्कन्ध कर्मरूप होते है परमाणु के द्वारा उनका प्रमाण निश्चय होना कि इतने कर्म परमाणुओं का बन्ध हुआ सो प्रदेश-बन्ध है। इस तरह बन्ध के चार भेद हैं। इनमें से प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध तो योग से होते है और स्थिति बंध तथा अनुभाग बंध कषाय से होते हैं। योग और कषाय के तीव्र या मंद होने से इन बन्धो में अन्तर पड जाता है ॥३॥

आगे प्रकृति बन्ध के भेद कहते हैं-

आद्यो ज्ञान- दर्शनावरण-वेदनीय-
मोहनीयायु-र्नाम-गोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थ - प्रकृति बंधके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद हैं॥४॥

इन आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ बतलाते हैं-

पञ्च-नव-द्वयष्टाविंशति-चतु-र्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

अर्थ - ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं। दर्शनावरण के नौ भेद हैं। वेदनीय के दो भेद हैं। मोहनीय के अठाईस भेद हैं। आयुके चार भेद हैं। नाम के बयालीस भेद हैं। गोत्र के दो भेद हैं और अन्तराय के पाँच भेद हैं ॥५॥

प्रथम ज्ञानावरण के पाँच भेद गिनाते हैं-

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम् ॥६॥

अर्थ - मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण ये ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं।

शंका - अभव्य जीवके मनःपर्यय ज्ञान शक्ति और केवलज्ञान शक्ति हैं या नहीं? यदि हैं तो वह अभव्य नहीं और यदि नहीं है तो उसके मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण मानना व्यर्थ है ?

समाधान - द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से अभव्य के भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं। किन्तु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा से नहीं हैं।

शंका - यदि अभव्य के भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं तो भव्य और अभव्य का भेद नहीं बनता, क्योंकि दोनों के ही मनःपर्यय ज्ञानशक्ति और केवल ज्ञान शक्ति है।

समाधान - शक्ति के होने और न होने की अपेक्षा भव्य और

अभव्य भेद नहीं हैं, किन्तु शक्ति के प्रकट होने की अपेक्षा से हैं। जिसके सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होंगे वह भव्य है और जिसके कभी प्रकट नहीं होंगे वह अभव्य है ॥६॥

दर्शनावरण के भेद कहते हैं-

चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचला-प्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

अर्थ - चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचल-प्रचला, सत्यानगृद्धि, ये दर्शानवरण कर्म के नौ भेद हैं।

विशेषार्थ - जो चक्षु के द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण न होने दे वह चक्षु दर्शनावरण है। जो चक्षुके सिवा अन्य इन्द्रियों के द्वारा वस्तुका सामान्य ग्रहण न होने दे वह अचक्षु दर्शनावरण है। जो अवधिदर्शन को रोके वह अवधि-दर्शनावरण और जो केवल दर्शन को न होने दे वह केवल दर्शनावरण है। मद, खेद और थकान दूर करने के लिए सोना निद्रा है। गहरी नींद को, जिसमें जीव का आँखे खोलना अशक्य होता है, निद्रानिद्रा कहते हैं। रंज मेहनत और थकान के कारण बैठे-बैठे ही ऊँघने लगना प्रचला है और प्रचला की अधिकता को प्रचला- प्रचला कहते हैं। जिसके उदय से जीव सोते-सोते ही उठ कर कोई बड़ा भारी काम कर डाले उसे सत्यानगृद्धि कहते हैं ॥७॥

अब तृतीय कर्म वेदनीय के भेद कहते हैं-

सदसद्वेद्ये ॥८॥

अर्थ - वेदनीय के दो भेद हैं साता और असाता। जिनके उदय से जीव देव आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख का अनुभव

करता है उसे साता वेदनीय कहते हैं और जिसके उदय से अनेक प्रकार के दुखका अनुभव करता है उसे असाता वेदनीय कहते हैं।।८।।

अब मोहनीय के भेद कहते हैं-

दर्शन-चारित्रमोहनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रि - द्वि-नव षोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्य कषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया लोभाः।।९।।

अर्थ - मोहनीय कर्म के दो भेद हैं- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय । दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं- सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व । चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं- अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय । अकषाय वेदनीय के नौ भेद हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद। कषाय वेदनीय के सोलह भेद हैं- अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ । इस तरह मोहनीयके अट्ठाईस भेद हैं ।

विशेषार्थ - दर्शन मोहनीय कर्मके तीन भेदों में से बंध तो केवल एक मिथ्यात्व का ही होता है । किंतु जब जीवको प्रथमोपशम सम्यकत्व होता है तो उस मिथ्यात्व के तीन भाग हो जाते हैं । अतः सत्ता और उदय की अपेक्षा दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं जिसके उदय से जीव सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ के श्रद्धानके प्रति उदासीन और हित अहितके विचारसे शून्य मिथ्यादृष्टि होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं । जब शुभ परिणाम के द्वारा उस मिथ्यात्वकी शक्ति घटा दी जाती है और

वह आत्मा के श्रद्धान को रोकने में असमर्थ हो जाता है तो उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं और जब उसी मिथ्यात्वकी शक्ति आधी शुद्ध हो पाती है तब उसे सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं । उसके उदयसे जीवके श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिले हुए भाव होते हैं । चरित्र मोहनीय के दो भेद हैं- अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय । अकषाय का अर्थ ईषत् कषाय यानी किञ्चित् कषाय है । इसीसे अकषाय को नोकषाय भी कहते हैं । क्रोध आदि कषाय का बल पाकर ही हास्य आदि होते हैं, उसके अभावमें नहीं होते । इसलिए इन्हें अकषाय कहा जाता है । जिसके उदय से हँसी आती है उसे हास्य कहते हैं । जिसके उदयसे किन्हीं विषयों में द्वेष होता है उसे अरति कहते हैं । जिसके उदय से रंज होता है उसे शोक कहते हैं । जिसके उदय से डर लगता है उसे भय कहते हैं । जिसके उदयसे जीव अपने दोषों को ढांकता है और दूसरों को दोष लगाता है उसे जुगुप्सा कहते हैं । जिसके उदयसे स्त्रीत्वसूचक भाव होते हैं उसे स्त्री वेद कहते हैं । जिसके उदयसे पुरुषत्वसूचक भाव होते हैं उसे पुरुष वेद कहते हैं । जिसके उदय से स्त्रीत्व और पुरुषत्व दोनों से रहित एक तीसरे प्रकार के भाव होते हैं उसे नपुंसक वेद कहते हैं । ये नौ भेद अकषाय वेदनीय के हैं । कषाय वेदनीय के सोलह भेद इस प्रकार हैं- मूल कषाय चार हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ । इनमें से प्रत्येकको चार-चार अवस्थाएँ होती हैं । मिथ्यात्व के रहते हुए संसारका अंत नहीं होता इसलिए मिथ्यात्व को अनंत कहते हैं और जो क्रोध, मान, माया या लोभ अनन्त यानी मिथ्यात्व से बंधे हुए हैं उन्हें अनंतानुबंधी कहते हैं । जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से थोड़ा-सा भी देश चारित्र रूप भाव प्रकट नहीं हो सकता, उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । जिस क्रोध मान, माया या लोभ के उदय से जीव के सकल चारित्र रूप भाव नहीं होते उन्हें प्रत्याख्यानावरण कहते हैं और जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से शुद्धोपयोग रूप यथाख्यात चारित्र नहीं प्रकट होता उसे संज्वलन कहते हैं । ये कषाय

वेदनीय के सोलह भेद हैं। इस तरह मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद हैं ॥९॥

अब आयु कर्म के भेद कहते हैं-

नारक-तैर्यग्योन-मानुष्य-दैवानि ॥१०॥

अर्थ -- नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार आयु कर्म के भेद हैं। जिसके उदय से नरक में दीर्घकाल तक रहना पड़े वह नरकायु है। जिसके उदयसे तिर्यञ्च योनि में रहना पड़े वह तिर्यगायु है। जिसके उदय से मनुष्य पर्याय में जन्म लेना पड़े वह मनुष्यायु है और जिसके उदय से देवों में जन्म हो वह देवायु है ॥१०॥

अब नाम कर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं-

गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-र्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघात-परघा-तातपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयःप्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थंकरत्वं च ॥११॥

अर्थ - गति, जाति, शरीर, आंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श ,रस, गन्ध, वर्ण, आनूपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय यशः कीर्ति और इन दसों के प्रतिपक्षी-अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयशःकीर्ति, तथा तीर्थंकर ये बयालीस भेद नाम कर्म के हैं। इन्हीं के अवान्तर भेदों को मिलाने से नाम कर्म के तिरानवें भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ - जिसके उदय से जीव दूसरे भव में जाता है उसे गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं- नरक गति, तिर्यंगगति, मनुष्य गति और देव

गति जिसके उदय से नारक भाव हों वह नरक गति है। ऐसा ही अन्य गतियों का भी स्वरूप जानना। उन नरकादि गतियों में अव्यभिचारी समानता के आधार पर जीवोंका एकीकरण जिसके उदय से हो वह जाति नाम कर्म है। उसके पाँच भेद हैं- एकेन्द्रिय जाति नाम, दो इन्द्रिय जाति नाम, तेइन्द्रिय जाति नाम, चौइन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम। जिसके उदयसे जीव एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जातिनाम है। इसी तरह शेष में भी लगा लेना। जिसके उदयसे जीवके शरीर की रचना होती है वह शरीर नाम है। उसके पाँच भेद हैं औदारिक शरीर नाम, वैक्रयिक शरीर नाम, आहारक शरीर नाम, तैजस शरीर नाम और कार्मण शरीर नाम। जिसके उदयसे औदारिक शरीरकी रचना हो वह औदारिक शरीर नाम है। इस तरह शेष को भी समझ लेना। जिसके उदय से अंग उपांग का भेद प्रकट हो वह अंगोपांग नाम कर्म है। उसके तीन भेद हैं- औदारिक शरीर अंगोपांग नाम, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नाम, आहारक शरीर अंगोपांग नाम। जिसके उदयसे अंग उपांग की रचना हो वह निर्माण है। इसके दो भेद हैं- स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। निर्माण नाम कर्म जाति उदय के अनुसार चक्षु आदिकी रचना अपने अपने स्थान में तथा अपने अपने प्रमाण में करता है। शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किए हुए पुद्गलों का परस्पर में मिलन जिस कर्म के उदय से होता है वह बन्धन नाम है। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर में छिद्र रहित एकमेकपना होता है वह संयम नाम है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है वह संस्थान नाम है। उसके छह भेद हैं- जिसके उदयसे ऊपर, नीचे तथा मध्य में शरीर के अवयवों की समान विभाग के लिए रचना होती है उसे समचतुरस्त्र संस्थान नाम कहते हैं। जिसके उदय से नाभि के ऊपर का भाग भारी और नीचे का पतला होता है। जैसे वटका वृक्ष, उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम कहते हैं। स्वाति यानी बाम्बी की तरह नाभिसे नीचेका भाग भारी

और ऊपरका दुबला जिस कर्मके उदय से हो वह स्वाति संस्थान नाम है। जिसके उदय से कुबड़ा शरीर हो वह कुब्जक संस्थान नाम है। जिसके उदयसे बौना शरीर हो वह वामन संस्थान नाम है। जिसके उदय से विरूप अंगोपांग हों वह हुंडक संस्थान नाम है। जिसके उदय से हड्डियों के बन्धन में विशेषता हो वह संहनन नाम है। उसके भी छह भेद हैं- वज्र वृषभ नाराच संहनन, वज्र नाराज संहनन, नाराच संहनन, अर्ध नाराच संहनन, कीलित संहनन और असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन नाम। जिसके उदय से वृषभ यानी वेष्टन, नाराच यानी कीलें और संहनन यानी हड्डियाँ वज्रकी तरह अभेद्य हों वह वज्र वृषभ नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से कील और हड्डियों वज्रकी तरह हों और वेष्ठन सामान्य हो वह वज्र नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ों के जोड़ों में कीलें हों वह नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ों की सन्धियां अर्धकीलित हो वह अर्धनाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ परस्पर में ही कीलित हों अलग से कील न हो, वह कीलित संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ कवल नस, स्नायु वगैरहसे बंधे हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है। जिसके उदय से शरीर में स्पर्श प्रकट हो वह स्पर्श नाम है। उसके आठ भेद हैं- कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम। जिसके उदयसे शरीरमें रस प्रकट हो वह रस नाम है। उसके पाँच भेद हैं- तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम। जिसके उदयसे शरीरमें गन्ध प्रकट हो वह गन्धनाम है। उसके दो भेद हैं- सुगन्धनाम और दुर्गन्धनाम। जिसके उदयसे शरीर में वर्ण यानी रंग प्रकट हो वह वर्णनाम है। उसके पाँच भेद हैं- कृष्ण वर्ण नाम, शुक्ल वर्णनाम, नील वर्णनाम, रक्तवर्ण नाम और हरित कर्म नाम है। जिसके उदयसे पूर्व शरीरका आकार बना रहे वह आनूपूर्व्य नाम कर्म है। उसके चार भेद हैं- नरक गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनामा, मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, और देवगति

प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम। जिस समय मनुष्य या तिर्यञ्च मर करके नरक गति की ओर जाता है तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है जैसा उसके पूर्व शरीरका आकार था जिसे वह छोड़कर आया है, यह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य नाम कर्म का कार्य है। इसी तरह अन्य आनुपूर्वियों का कार्य जानना। आनुपूर्वी कर्मका उदय विग्रह गति में ही होता है। जिसके उदय से शरीर न तो लोहे के गोले की तरह भारी हो और न आक की रुईकी तरह हल्का हो वह अगुरुलघु नाम है। जिसके उदय से जीव स्वयं ही अपना घात कर के मर जाये वह उपघात नाम है। जिसके उदय से दूसरे के द्वारा चलाये गये शस्त्र आदि से अपना घात हो वह परघात नाम है। जिसके उदय से आतपकारी शरीर हो वह आतप नाम है। इसका उदय सूर्य के बिम्बमें जो बादर पर्याप्त पृथिवी कायिक जीव होते हैं उन्हीं के होता है। जिसके उदय से उद्योतरूप शरीर हो वह उद्योत नाम है। इसका उदय चन्द्रमाके बिम्बमें रहनेवाले जीवों के तथा जुगुनु वगैरह के होता है। जिसके उदय से उछ्वास हो वह उछ्वास नाम है। विहाय यानी आकाश। आकाश में गमन जिस कर्म के उदय से होता है वह विहायोगति नाम है। हाथी बैल वगैरह की सुन्दर गति के कारण कर्म को प्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं और ऊँट, गधे वगैरह की खराब गति के कारण कर्म को अप्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं। यहां ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि पक्षियों की ही गति आकाशमें होती है। आकाश द्रव्य सर्वत्र है अतः सभी जीव आकाश में ही गमन करते हैं। सिद्ध जीव और पुद्गलों की गति स्वाभाविक है कर्मके उदयसे नहीं हैं।

जिसके उदय से शरीर एक जीव के ही भोगने योग्य होता है वह प्रत्येक शरीर नाम है। जिसके उदयसे बहुत से जीवोंके भोगने योग्य साधारण शरीर होता है वह साधारण शरीर नाम है। अर्थात् साधारण शरीर नाम कर्म के उदय से एक शरीर में अनन्त जीव एक अवगाहना रूप होकर रहते हैं। वे सब एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ ही मरते हैं और एक साथ

ही श्वास वगैरह लेते हैं । उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। जिसके उदय से द्वीन्द्रिय आदि में जन्म हो वह त्रसनाम है । जिसके उदय से एकेन्द्रियों में जन्म हो वह स्थावर नाम है । जिसके उदय से दूसरे जीव अपने से प्रीति करें वह सुभगनाम है । जिसके उदय से सुन्दर सुरूप होने पर भी दूसरे अपने से प्रीति न करें अथवा घृणा करें वह दुर्भगनाम है । जिसके उदय से स्वर मनोज्ञ हो जो दूसरों को प्रिय लगे वह सुस्वर नाम है । जिसके उदय से अप्रिय स्वर हो वह दुस्वर नाम है । जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों वह शुभ नाम है । जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हों वह अशुभ नाम है । जिसके उदय से सूक्ष्म शरीर हो जो किसी से न रुके वह सूक्ष्म नाम है । जिसके उदय से स्थूल शरीर हो वह बादर नाम है । जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्तिकी पूर्णता हो वह पर्याप्ति नाम है । उसके छह भेद हैं- आहार पर्याप्ति नाम, शरीर पर्याप्ति नाम, इन्द्रिय पर्याप्ति नाम, प्राणापान पर्याप्ति नाम, भाषा पर्याप्तिनाम और मनः पर्याप्ति नाम। जिसके उदय से पर्याप्तियों की पूर्णता नहीं होती वह अपर्याप्ति नाम है । जिसके उदय से शरीर के धातु उपधातु स्थिर होते हैं जिससे कठिन श्रम करने पर भी शरीर शिथिल नहीं होता वह स्थिर नाम है । जिसके उदय से धातु उपधातु स्थिर होते हैं जिससे कठिन श्रम करने पर भी शरीर शिथिल नहीं होता वह स्थिर नाम है । जिसके उदय से धातु उपधातु स्थिर नहीं होते, जिससे थोड़ा-सा श्रम करने से ही या जरा सी गर्मी-सर्दी लगने से ही शरीर म्लान हो जाता है वह अस्थिर नाम है । जिसके उदय से शरीर प्रभा सहित हो वह आदेय नाम है और जिसके उदय से शरीर प्रभा रहित हो वह अनादेय नाम है । जिसके उदय से संसार में जीव का यश फैले वह यशःकीर्ति नाम है । जिसके उदय से संसार में अपयश फैले वह अयशस्कीर्ति नाम है । जिसके उदयसे अपूर्व प्रभावशाली अर्हन्त पदके साथ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता है वह तीर्थकर नाम है । इस तरह नामकर्म की बयालीस प्रकृतियों के ही तिरानवें भेद हो जाते हैं ॥११॥

अब गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ - गोत्रकर्म के दो भेद हैं- उच्च गोत्र और नीच गोत्र । जिसके उदय से लोक में अपने सदाचार के कारण पूज्य कुल में जन्म होता है उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिसके उदय से निन्दनीय आचरण वाले कुल में जन्म हो वह नीच गोत्र है ॥१२॥

अब अन्तराय कर्म के भेद कहते हैं-

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ - दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगन्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच भेद अन्तराय कर्म के हैं । जिसके उदय से देने की इच्छा होते हुए भी नहीं देता है वह दानान्तराय है । लाभ की इच्छा होते हुए भी तथा प्रयत्न करने पर भी जिसके उदय से लाभ नही होता है वह लाभान्तराय है । भोग और उपभोग की चाह होते हुए भी जिसके उदय से भोग उपभोग नहीं कर सकता वह भोगान्तराय और उपभोगान्तराय है । उत्साह करने पर भी जिसके उदय से उत्साह नहीं हो पाता वह वीर्यान्तराय है ॥१३॥

प्रकृति बन्ध के भेद बतलाकर अब स्थिति बन्ध के भेद बतलाते हैं । स्थिति दो प्रकार की है - उत्कृष्ट और जधन्य ।

पहले कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं -

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः ॥१४॥

अर्थ - आदि के तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है । यह उत्कृष्ट स्थिति बन्ध संज्ञी पंचेद्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के होता है ॥१४॥

अब मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं-

सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।१५।।

अर्थ – मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के ही होती है ॥१५॥

अब नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं -

विंशतिर्नामगोत्रयोः ।।१६।।

अर्थ – नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के ही होती है ॥१६॥

अब आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं-

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष : ।।१७।।

अर्थ – आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है । यह स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होती है ॥१७॥

अब जधन्य स्थिति-बन्ध को बतलाते हुए पहले वेदनीय की जधन्य स्थिति बतलाते हैं-

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ।।१८।।

अर्थ – वेदनीय कर्म की जधन्य स्थिति बारह मुहुर्त है । यह स्थिति सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुण स्थान मे ही बँधती है ॥१८॥

अब नाम और गोत्र की जधन्य स्थिति कहते हैं-

नामगोत्रयोरष्टौ ।।१९।।

अर्थ – नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहुर्त है। यह भी

सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान मे ही बंधती है ॥१९॥

अब शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति कहते हैं-

शेषारणामन्तर्मुहुर्ता ।।२०।।

अर्थ – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तमुहुर्त है। इनमें से मोहनीय की जधन्य स्थिति नौवें गुणस्थान में ही बंधती है । आयु की जघन्य स्थिति संख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यञ्चों के बंधती है। शेष तीन कर्मो की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में बंधती है ॥२०॥

इस तरह स्थिति बन्ध को कहकर अब अनुभव बन्ध को कहते हैं-

विपाकोऽनुभवः ।।२१।।

अर्थ – विशिष्ट अथवा नाना प्रकार के पाक यानी उदय को विपाक कहते हैं। और विपाक को ही अनुभव कहते हैं।

विशेषार्थ – छठे अध्याय में बतलाया है कि कषाय की तीव्रता या मन्दता के होने से कर्म के आस्त्रव में विशेषता होती है और उसकी विशेषता से कर्म के उदय में अन्तर पडता है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवके निमित्त से भी कर्म के फल देने मे विविधता होती है। अतः कर्म जो अनेक प्रकार का फल देता है उस फल देने का नाम ही अनुभव या अनुभाग है । शुभ परिणामों की अधिकता होने से शुभ प्रकृतियों में अधिक रस पड़ता है और अशुभ प्रकृतियों में मन्द रस पड़ता है । तथा अशुभ परिणामों की अधिकता होने से अशुभ प्रकृतियों में अधिक रस पड़ता है और शुभ प्रकृतियों का मन्द रस पड़ता है। इस तरह परिणामों की विचित्रता से अनुभाग बन्ध में भी अन्तर पड़ता है। कर्मो का यह अनुभाग दो रूप से होता है एक स्वमुख से और दूसरे परमुख से ।

आठों मूल कर्मों का अनुभाग स्वमुख ही होता है । अर्थात् प्रत्येक कर्म अपने रूप मे ही अपना फल देता है, एक मूल कर्म दूसरे मूल कर्म रूप होकर फल नहीं देता । किन्तु आठों मूलकर्मों की जो उत्तर प्रकृतियाँ हैं उनमें जो प्रकृतियाँ एक जाति की हैं वे आपस में अदल बदलकर भी फल देती हैं । जैसे, असातावेदनीय सातावेदनीय रूप से भी फल दे सकता है । मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण रूप से उदय मे आता है । इसको परमुख से फल देना कहते हैं । परन्तु कुछ उत्तर प्रकृतियाँ भी ऐसी हैं जो स्वमुख से ही अपना फल देती हैं । जैसे, दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय, रूप से फल नहीं देता और न चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय रूप से फल देता है । इसी तरह चारों आयु भी अपने रूप ही फल देती हैं, परस्पर में अदल बदल कर फल नहीं देती । अर्थात् किसी ने नरकायु का बन्ध किया हो और उसका फल मनुष्यायु या तिर्यञ्चायु के रूप मे मिले, यह सम्भव नहीं है । उसे नरक में ही जाना होगा ॥२१॥

आगे इसी बात को कहते हैं-

स यथानाम ॥२२॥

अर्थ – कर्म का जैसा नाम है वैसा ही उसका फल है । जैसे, ज्ञानावरण का फल ज्ञान शक्ति को ढाँकना है, दर्शनावरण फल दर्शन शक्ति को ढाँकना है । इसी तरह सभी कर्मों और उनके भेदों का नाम सार्थक है और नाम के अनुसार ही उनका फल भी होता है ॥२२॥

अब यह बतलाते हैं कि जो कर्म उदय में आकर अपना तीव्र या मन्द फल देता है,फल देने के बाद भी वह कर्म आत्मा से चिपटा रहता है या छूट जाता है ।

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थ – फल दे चुकने पर कर्म की निर्जरा हो जाती है , क्योकि स्थिति पूरी हो चुकने पर कर्म आत्मा के साथ एक क्षण भी चिपटा नही रह

जाता। आत्मा से छूटकर वह किसी और रूप से परिणमन कर जाता है । इसीका नाम निर्जरा है ।

विशेषार्थ – निर्जरा दो प्रकार की होती है- सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । क्रम से उदय काल आने पर कर्म का अपना फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है और जिस कर्म का उदय काल तो नहीं आया, किन्तु तपस्या वगैरह के द्वारा जबरदस्ती से उसे उदय में लाकर जो खिराया जाता है वह अविपाक निर्जरा है । जैसे आम पेड़ पर लगा लगा जब स्वयं ही पक कर टपक जाता है तो वह सविपाक है और उसे पेड़ से तोड़कर पाल मे दबाकर जो जल्दी पका लिया जाता है वह अविपाक है ॥२३॥

अब प्रदेश बन्ध को कहते हैं -

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥

अर्थ – इस सूत्र में प्रदेश बन्धका स्वरूप बतलाते हुए बँधने वाले कर्म प्रदेशों के बारे में इतनी बातें बतलाई हैं – वे कर्म प्रदेश किसके कारण हैं? कब बंधते हैं ? कैसे बंधते है ? उनका स्वभाव कैसा है ? बंधने पर वे रहते कहाँ हैं ? और उनका परिमाण कितना होता है ? प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है – वे कर्म प्रदेश ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियों के कारण हैं । अर्थात जैसे ही वे बंधते हैं वैसे ही आयु को छोडकर शेष सात कर्म रूप हो जाते हैं और यदि उस समय आयु कर्म का भी बन्ध होता है तो आठों कर्म रूप हो जाते हैं । दूसरा प्रश्न है कि कब बन्धते हैं ? उसका उत्तर है कि सब भवों में बंधते हैं । ऐसा कोई भव नहीं, और एक भव में ऐसा कोई क्षण नहीं जब कर्मबन्ध न होता हो ? तीसरा प्रश्न है कि कैसे बंधते हैं ? उसका उत्तर है- योग विशेष के निमित्त से बंधते हैं । योग का वर्णन छठे अध्याय में हो चुका है वही कर्मों के बन्ध मे निमित्त है । चौथा

प्रश्न है कि उनका स्वभाव कैसा है ? उसका उत्तर है कि वे सूक्ष्म होते हैं- स्थूल नहीं होते, तथा जिस आकाश प्रदेश में आत्म प्रदेश रहते हैं उसी आकाश प्रदेश मे कर्म योग्य पुदगल भी ठहर जाते हैं। पाँचवा प्रश्न है कि वे किस आधार से रहते हैं ? इसका उत्तर है कि कर्म प्रदेश आत्मा के किसी एक ही भाग में आकर नहीं रहते । किन्तु आत्मा के समस्त प्रदेशों में ऐसे घुलमिल जातें हैं जैसे दूध मे पानी । छठा प्रश्न है कि उनका परिमाण कितना होता है ? तो उत्तर है कि अनंतानन्त परमाणु प्रतिसमय बंधते रहते हैं। सारांश यह है कि एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं। प्रत्येक प्रदेश मे प्रति समय अनन्तानन्त प्रदेशी पुदगल स्कन्ध बन्ध रूप होते रहते हैं। यही प्रदेश बन्ध है ॥२४॥

अब कर्मों की पुण्य प्रकृतियों को बतलाते हैं-

सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

अर्थ – साता वेदनीय, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु ये तीन आयु एक उच्चगोत्र और नाम कर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ ये बयालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं। नाम कर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं – मनुष्य गति, देवगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्त्रसंस्थान, वज्र, वृषभनाराच संहनन, प्रशस्त, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, देव गत्यानुपूर्वी, अनुरुलधु, परघात, उछ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश–कीर्ति, निर्माण और तीर्थङ्कर। ये सब पुण्य प्रकृतियाँ हैं ॥२५॥

अब पाप प्रकृतियों को कहते हैं -

अतोन्यत् पापम् ॥२६॥

अर्थ – इन पुण्य कर्म प्रकृतियों के सिवा शेष कर्मप्रकृतियाँ पाप

प्रकृतियाँ हैं। सो ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की छब्बीस, अन्तराय की पाँच, ये घातियाकर्मों की प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं। नरक गति, तिर्यञ्च गति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण गन्ध, रस, स्पर्श, नरक गत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये नाम कर्म की चौंतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र। इस तरह बयासी प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ – घातिया कर्म तो चारों अशुभ ही हैं और अघातिया कर्मों की प्रकृतियाँ पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। उनमे भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं। इसलिए उनकी गणना पुण्य प्रकृतियों में भी की जाती है और पाप प्रकृतियों में भी की जाती है। इससे ऊ पर गिनाई गयी पुण्य और पाप प्रकृतियों का जोड़ ८२+४२=१२४ होता है। किन्तु बन्ध प्रकृतियाँ १२० ही हैं। जबकि आठों कर्मों की कुल प्रकृतियाँ ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ हैं। इनमे पाँच बंधन और पाँच संघात तो शरीर के साथी हैं- अर्थात यदि औदारिक शरीर का बन्ध होगा तो औदारिक बन्धन और औदारिक संघात का अवश्य बन्ध होगा। इसलिए बन्ध प्रकृतियों में पाँच शरीरों का ही ग्रहण किया है। अतः पाँच बन्धन और पाँच संघात ये १० प्रकृतियाँ कम हुईं। वर्ण गन्ध आदि के बीस भेदों में से केवल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन –चार को ही ग्रहण किया है, इससे १६ प्रकृतियाँ ये कम हुईं। तथा दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों में से केवल एक मिथ्यात्व का ही बन्ध होता है। अतः दो ये कम हुईं। इस तरह अठाईस प्रकृतियों के कम होने से बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १२० ही रहती हैं। इस तरह बन्ध का वर्णन समाप्त हुआ ॥२६॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेऽष्टमोध्यायः ॥८॥

नवम अध्याय

अब बन्ध तत्त्व का वर्णन करने के बाद बन्ध के विनाश के लिए संवर तत्त्व का वर्णन करते हैं। प्रथम ही संवर का लक्षण कहते हैं-

आस्रवनिरोध: संवर: ।।१।।

अर्थ – नये कर्मों के आने में जो कारण है उसे आस्त्रव कहते हैं। आस्त्रव के रोकने को संवर कहते हैं। संवर के दो भेद हैं- भाव संवर और द्रव्य संवर। जो क्रियाएँ संसार में भटकने में हेतु हैं उन क्रियाओं का अभाव होना भाव संवर है और उन क्रियाओं का अभाव होने पर क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म पुद्‍गलों का आगमन होता था उनका रुकना द्रव्य संवर है ॥१॥

अब संवर के कारण बतलाते हैं-

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रै: ।।२।।

अर्थ – वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र से होता है। संसार के कारणों से आत्माकी रक्षा करना गुप्ति है। प्राणियों को कष्ट न पहुँचे इस भावनासे यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना समिति हैं। जो जीवको उसके इष्ट स्थानमें धरता है वह धर्म है। संसार शरीर वगैरह का स्वरूप बार-बार विचारना अनुप्रेक्षा है। भूख प्यास वगैरह का कष्ट होने पर उस कष्ट को शांति पूर्वक सहन करना परिषहजय है। संसार भ्रमण से बचने के लिए, जिन क्रियाओं से कर्म बन्ध होता है उन क्रियाओं को छोड़ देना चारित्र है।

विशेषार्थ – संवर का प्रकरण होते हुए भी जो इस सूत्र में संवरका ग्रहण करने के लिए 'स' शब्द दिया है वह यह बतलाता है कि संवर गुप्ति वगैरह से ही हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से नहीं हो सकता; क्योंकि जो कर्म रागद्वेष या मोहके निमित्तसे बंधता है वह उनको दूर किये बिना

नहीं रुक सकता ॥२॥

अब संवर का प्रमुख कारण बतलाते हैं-

तपसा निर्जरा च ।।३।।

अर्थ – तप से संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है।

विशेषार्थ – यद्यपि दस धर्मों में तप आ जाता है फिर भी तप का अलग से ग्रहण यह बतलाने के लिए किया है कि तप से नवीन कर्मों का आना रुकता है और पहले बँधे हुए कमो की निर्जरा भी होती है। तथा तप संवर का प्रधान कारण है। यद्यपि तप को सांसारिक अभ्युदय का भी कारण बतलाया है किन्तु तपका प्रधान फल तो कर्मोंका क्षय होना है और गौण फल सांसारिक अभ्युदयकी प्राप्ति है। अत: तप अनेक काम करता है ॥३॥

अब गुप्ति का लक्षण कहते हैं-

सम्यग्योग-निग्रहो गुप्ति : ।।४।।

अर्थ – योग अर्थात् मन वचन और कायकी स्वेच्छा चारिता को रोकना गुप्ति है। लौकिक प्रतिष्ठा अथवा विषय सुख की इच्छा से मन-वचन और काय की प्रकृति को रोकना गुप्ति नहीं है यह बतलाने के लिये ही सूत्र में सम्यक पद दिया है। अत: जिससे परिणामों में किसी तरह का संक्लेश पैदा न हो इस रीति से मन, वचन और कायकी स्वेच्छाचारिता को रोकने से उसके निमित्त से होनेवाला कर्मों का आस्त्रव नही होता। उस गुप्ति के तीन भेद हैं-कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ॥४॥

यद्यपि गुप्ति का पालक मुनि मन, वचन और कायकी प्रवृति को रोकता है किन्तु आहार के लिये, विहार के लिये और शौच आदि के लिये उसे प्रवृति अवश्य करनी पडती है।

प्रवृति करते हुए भी जिससे आस्त्रव नही हो ऐसा उपाय बतलाने के लिये समिति को कहते हैं -

ईर्या- भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

अर्थ – ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। यहाँ पूर्व सूत्र से 'सम्यक' पद की अनुवृति होती है; अतः पाँचो में सम्यक् पद लगा लेना चाहिये । अर्थात सम्यक् ईर्या, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदान निक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग । सूर्य का उदय हो जाने पर जब प्रकाश इतना फैल जाये कि आँखो से प्रत्येक वस्तु साफ दिखायी देने लगे, उस समय मनुष्य के पद संचार से जो मार्ग प्रासुक हो उस मार्ग पर चार हाथ जमीन आगे देखते हुए, सब ओर से मन को रोक कर धीरे-धीरे गमन करना ईर्या समिति है । हित-मित और सन्देह रहित वचन बोलना भाषा समिति है । अर्थात मिथ्या वचन, निन्दापरक वचन, अप्रिय वचन, कषाय के वचन, भेद डालने वाले वचन, निस्सार अथवा अल्प सारवाले वचन सन्देह से भरे हुए वचन, भ्रम पैदा करनेवाले वचन, हास्य वचन, अयुक्त वचन, असभ्य वचन, कठोर वचन, अधर्मपरक वचन और अति प्रशंसा परक वचन साधु को नही बोलना चाहिये । दिन में एक बार श्रावक के घर जा कर नवधाभक्तिपूर्वक तथा कृत, कारित, अनुमोदना आदि दोषों से रहित दिया हुआ निर्दोष आहार खड़े हो कर अपने पाणि पात्र मे ही ग्रहण करना एषणा समिति है । शास्त्र, कमण्डल आदि धर्म के उपकरणों को देख भालकर तथा पीछी से साफ करके रखना उठाना आदान निक्षेपण समिति है । त्रस और स्थावर जीवों को जिससे बाधा न पहुँचे इस तरह से शुद्ध जन्तु रहित भूमि में मल मूत्र आदि करना उत्सर्ग समिति है । इस तरह ये पाँचो समितियाँ संवर की कारण हैं ।

शंका – ये समितियाँ तो वचन गुप्ति और कायगुप्ति के ही अन्तर्भूत हैं, इन्हें अलग क्यों कहा ?

समाधान – काल का प्रमाण करके समस्त योगों का निग्रह करना तो गुप्ति है, और जो अधिक समय तक गुप्ति का पालन करने में असमर्थ

हैं उनका शुभ क्रियाओं में सावधानी पूर्वक प्रवृति करना समिति है । यही दोनों में भेद है ॥५॥

अब दस धर्मों को कहते हैं -

उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागा-किंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

अर्थ – उत्तमक्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य, ये दस धर्म के भेद हैं । क्रोध की उत्पति के निमित्त होते हुए भी परिणामों में मलिनता न होना क्षमा है । उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य वगैरह के होते हुए भी उनका घमण्ड नही करना मार्दव है । मन, वचन और काय की कुटलिता का न होना आर्जव है । लोभ का अत्यन्त अभाव शौच है । लोभ चार प्रकार का होता है – सज्जन पुरुषों के बीच में हित मित वचन बोलना सत्य धर्म है । जीवन का लोभ, नीरोगता लोभ, इन्द्रियो का लोभ और भोग्य सामग्री का लोभ । इन चारों ही लोभों का अभाव होना शौच धर्म है ।

ईर्या समिति वगैरह का पालन करते समय एकेन्द्रिय आदि जीवों को पीड़ा न पहुँचाना प्राणि संयम है और इन्द्रियों के विषयों में राग का न होना इन्द्रिय संयम है । इस तरह संयम दो प्रकार का है । कर्मों का क्षय करने के लिये अनशन आदि करना तप है । चेतन और अचेतन परिग्रह को छोडना त्याग है, शरीर वगैरह से भी ममत्व न करना आकिंचन्य है । पहले भोगी हुई स्त्री को स्मरण न करके तथा स्त्री मात्र की कथा के सुनने से विरत होकर स्त्री से संयुक्त शय्या आसन पर भी न बैठना और अपनी आत्मा में ही लीन रहना ब्रह्मचर्य है । ये दस धर्म संवर के कारण हैं । इनके पहले जो उत्तम विशेषण लगाया है वह यह बतलाने के लिये लगाया है कि किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये क्षमा आदि को अपनाना उत्तम

क्षमा नहीं है ॥६॥

शंका – सत्य धर्म और भाषा समिति में क्या अन्तर है ?

समाधान – संयमी मनुष्य साधुजनों से या असाधुजनों से बातचीत करते समय हित- मित ही बोलता है अन्यथा यदि बहुत बातचीत करे तो राग और अनर्थदण्ड आदि दोषों का भागी होता है। यह भाषा समिति है। किन्तु सत्य धर्म में संयमी जनों को अथवा श्रावकों के ज्ञान चारित्र आदि की शिक्षा देने के उद्देश्य से अधिक बोलना भी बुरा नहीं है।

इसके बाद बारह अनुप्रेक्षाओं को कहते हैं -

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुलर्भ-धर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अर्थ – अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुलर्भ, धर्मस्वाख्यात इन बारहों के स्वरूप का बारबार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। इन्द्रियों के विषय, धन, यौवन,जीवन, वगैरह जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं ऐसा विचारना अनित्यानुप्रेक्षा है। ऐसा विचारते रहने से इनका वियोग होने पर भी दुःख नहीं होता ॥१॥ इस संसार में कोई शरण नहीं है। पाल पोषकर पुष्ट हुआ शरीर भी कष्ट में साथ नहीं देता, बल्कि उल्टा कष्ट का ही कारण होता है। बन्धु बान्धव भी मृत्यु से नहीं बचा सकते। इस प्रकार का विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है ॥२॥ संसार के स्वभाव का विचार करना संसारानुप्रेक्षा है ॥३॥ संसार में अनादि काल से अकेला ही घूमता रहा हूँ। न कोई मेरा अपना है और न कोई पराया। धर्म ही एक मेरा सहायक है ऐसा विचारना एकत्वानुप्रेक्षा है ॥४॥ शरीर वगैरह से अपने को भिन्न विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥५॥ शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है ॥६॥ आस्रव के दोषों का विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा

है ॥७॥ संवर के गुणों का विचार करना संवरानुप्रेक्षा है ॥८॥ निर्जरा के गुण दोषों का विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है ॥९॥ लोक के आकार वगैरह का विचार करना लोकानुप्रेक्षा है। इसका विचार करने से ज्ञान की विशुद्धि होती है ॥१०॥ ज्ञान की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है अतः ज्ञान को पाकर विषय सुख में नहीं डूबना चाहिये इत्यादि विचारना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है ॥११॥ अर्हन्त भगवान के द्वारा कहा गया धर्म मोक्ष की प्राप्ति का कारण है, इत्यादि विचार करना धर्मानुप्रेक्षा है ॥१२॥ इन बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना करने से मनुष्य उत्तम क्षमा आदि दश धर्मो को भी अच्छी रीति से पालता है और आगे कही जानेवाली परिषहों को भी जीतने का उत्साह करता है। इसीसे अनुप्रेक्षाओं को धर्म और परिग्रहों के बीच में रखा है ॥७॥

परिषह क्यों सहना चाहिये ?

यह प्रश्न होने पर परिषहों को सहने का उद्देश्य बतलाते हैं-

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थ परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ – संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए परिषहों को सहना चाहिये। अर्थात जो स्वेच्छा से भूख प्यास वगैरह के परिषह को सहते हैं उनके ऊपर जब कोई उपसर्ग आता है तो कष्ट सहन करने का अभ्यास होने से वे उन उपसर्गों से घबरा कर अपने मार्ग से डिगते नहीं हैं। और इनके सहन करने से कर्मों की निर्जरा भी होती है। अतः विपत्ति के समय मन को स्थिर रखने के लिए परीषहों को सहना ही उचित है ॥८॥

उद्देश्य बतलाकर परीषहों के स्वरूप को कहते हैं -

क्षुत्पिपासा - शीतोष्ण -दशंमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचनाऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार पुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥

अर्थ - क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्नय, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं । मोक्षार्थी को इन्हें सहना चाहिये । अत्यंत भूख की पीड़ा होने पर धैर्य के साथ उसे सहना क्षुधा परीषह का जय है ॥१॥ प्यास की कठोर वेदना होते हुए भी प्यास के वश में नहीं होना पिपासा परीषह जय है ॥२॥ शीत से पीड़ित होते हुए भी शीत का प्रतिकार करने की भावना भी मन में न होना शीत परीषह जय है ॥३॥ ग्रीष्मऋतु आदि के कारण गर्मी का घोर कष्ट होते हुए भी उससे विचलित न होना उष्ण परीषह जय है ॥४॥ डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सु वगैरह के काटने पर भी परिणामों में विषाद का न होना दंश मशक परीषह जय है ॥५॥ माता के गर्भ से उत्पन्न हुए बालक की तरह निर्विकार नग्नरूप धारण करना नग्न परीषह जय है ॥६॥ अरति उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हुए भी संयम मे अत्यन्त प्रेम होना अरति परीषह जय है ॥७॥ स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचायी जाने पर भी उनके रूप के देखने की अथवा उनका आलिंगन करने की भावना का भी न होना स्त्री परीषह जय है ॥८॥ पवन की तरह एकाकी बिहार करते हुए भयानक वन मे भी सिंह की तरह निर्भय रहना और नंगे पैरों मे कंकर पत्थर चुभने पर भी खेद खिन्न न होना चर्या परीषह जय है ॥९॥ जिस आसन से बैठे हों उससे विचलित न होना निषद्या परीषह जय है ॥१०॥ रात्रि में ऊँची- नीची कठोर भूमि पर पूरा बदन सीधा रखकर एक करवट से सोना शय्या परीषह जय है ॥११॥ अत्यन्त कठोर वचनों को सुन कर भी शान्त रहना आक्रोश परीषह जय है ॥१२॥ जैसे चन्दन को जलाने पर भी वह सुगन्ध ही देता है वैसे ही अपने को मारने- पीटने वालों पर भी क्रोध न करके उनका भला ही विचारना वध परीषह जय है ॥१३॥ आहार वगैरह के न मिलने से भले ही प्राण चले जायें किन्तु किसी से याचना करना तो दूर, मुँह पर दीनता का भाव भी न लाना याचना परीषह जय है

॥१४॥ आहारादि का लाभ न होने पर भी वैसा ही सन्तुष्ट रहना जैसा लाभ होने पर यह अलाभ परीषह जय है ॥१५॥ शरीर में अनेक व्याधियाँ होते हुए भी उनकी चिकित्सा का विचार भी न करना रोग परीषह जय है ॥१६॥ तृण- कांटे वगैरह की वेदना को सहना तृण स्पर्श परीषह जय है ॥१७॥ अपने शरीर मे लगे हुए मल की ओर लक्ष्य न देकर आत्म भावना मे ही लीन रहना मल परीषह जय है ॥१८॥ सम्मान और अपमान में समभाव रखना और आदर सत्कार न होने पर खेदखिन्न न होना, सत्कार पुरस्कार जय है ॥१९॥ अपने पांडित्य का गर्व न होना प्रज्ञा परीषह जय है ॥२०॥ यदि कोई तिरस्कार करे, तू अज्ञानी है, कुछ जानता नहीं है-तो उससे खिन्न न होकर ज्ञान की प्राप्ति का ही बराबर प्रयत्न करते रहना अज्ञान परीषह जय है ॥२१॥ श्रद्धा से च्युत होने के निमित्त उपस्थित होने पर भी मुनि मार्ग में बराबर आस्था बनाये रखना अदर्शन परीषह जय है ॥२२॥ इस तरह इन बाईस परीषहों को संक्लेश रहित चित्त से सहन करने से महान् संवर होता है ॥९॥

किस गुणस्थान मे कितनी परिषह होती हैं यह बतलाते हैं -

सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

अर्थ - सूक्ष्मसाम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में और छद्मस्थ वीतराग यानी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह होती हैं । मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली आठ परिषह नहीं होतीं, क्योकि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का उदय ही नहीं है । दसवें में केवल लोभ संज्वलन कषाय का उदय है । वह भी अत्यन्त सूक्ष्म है अतः दसवाँ गुणस्थान भी वीतराग छद्मस्थ के ही तुल्य है । इसलिए उसमें भी मोहजन्य आठ परिषह नहीं होतीं ॥१०॥

एकादश जिने ।।११।।

अर्थ – चार घातिया कर्मों के रहित जिन भगवान् में वेदनीय कर्म का सदभाव होने से ग्यारह परीषह होती हैं ।

शंका – यदि केवली भगवान मे ग्यारह परीषह होती हैं तो उन्हें भूख- प्यास बाधा भी होना चाहियेय!

समाधान – मोहनीय कर्म का उदय न होने से वेदनीय कर्म में भूख प्यास की वेदना को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती । जैसे, मन्त्र और औषधि के बल से जिसकी मारने की शक्ति नष्ट कर दी जाती है उस विष को खाने से मरण नही होता है , वैसे ही घातिया कर्मों का नष्ट हो जाने से अनन्त चतुष्टय से युक्त केवली भगवान के अन्तराय कर्म का भी अभाव हो जाता है और लगातार शुभ नोकर्म वर्गणाओं का संचय होता रहता है। इन कारणों से निःसहाय वेदनीय कर्म अपना काम नहीं कर सकता । इसी से केवली के भूख- प्यास की वेदना नही होती । फिर भी उनके वेदनीय का उदय है अतः ग्यारह परीषह उपचार से कही हैं ॥११॥

अन्य गुणस्थानो में परीषह कहते हैं-

बादर साम्पराये सर्वे ।।१२।।

अर्थ – बादर साम्पराय अर्थात् छठे से लेकर नीचे गुणस्थान तक सब परीषह होती हैं ।

विशेषार्थ – यद्यपि नौंवे गुणस्थान का नाम बादर साम्पराय है । किन्तु यहाँ बादर साम्पराय से नौवाँ गुणस्थान न लेकर 'बादर साम्पराय ' शब्द का अर्थ लेना चाहिये अर्थात बादर यानी स्थूल, और साम्पराय यानी कषाय का उदय होने से सभी परीषह होती हैं ॥१२॥

किस कर्म के उदय से कौन परीषह होती है यह भी बतलाते हैं -

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ।।१३।।

अर्थ – ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं ।

शंका – ज्ञानावरण का उदय होने पर अज्ञान परीषह का होना तो ठीक है परन्तु प्रज्ञा का अर्थ है ज्ञान, और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है ?

समाधान – प्रज्ञा परीषह का अर्थ है ज्ञान का मद हो तो उसे न होने देना । सो मद ज्ञानावरण के उदय में ही होता है ; जिनके समस्त ज्ञानावरण नष्ट हो जाता है उनके ज्ञान का मद नहीं होता । अतः प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण के उदय में ही होती है ॥१३॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।।१४।।

अर्थ – दर्शन मोह के होने पर अदर्शन परीषह होती है और अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होती है ॥१४॥

चारित्रमोहे नाग्नायारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कार पुरस्काराः ।।१५।।

अर्थ –चारित्र मोहनीय के उदय में नाग्नय, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं ॥१५॥

वेदनीये शेषाः ।।१६।।

अर्थ – शेष ग्यारह परीषह अर्थात क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण स्पर्श और मल परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होती हैं ॥१६॥

एक व्यक्ति मे एक साथ कितनी परीषह हो सकती है यह बतलाते हैं -

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नै कोनविंशते : ।।१७।।

अर्थ – एक जीव के एक साथ एक से लेकर उन्नीस परीषह तक हो सकती हैं ; क्योकि शीत और उष्ण में से एक समय में एक ही होगी । तथा

चर्या, शय्या और निषद्या में से एक ही होगी । अत: तीन के कम हो जाने से शेष उन्नीस परीषह एक साथ एक व्यक्ति में हो सकती हैं ॥१७॥

अब चारित्र के भेद कहते हैं -

सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथा-खयातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थ – सामायिक, छेदोपस्थापना, परीहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, इस तरह पाँच प्रकार का चारित्र है । समस्त सावद्ययोग का एक रुप से त्याग करना सामायिक चारित्र है । सामायिक चारित्र से डिगने पर प्रायश्चित के द्वारा सावद्य व्यापार में लगे हुए दोषों को छेद कर पुन: संयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है अथवा समस्त सावद्य योग का भेद रूप से त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र है । अर्थात मैंने समस्त पाप कार्यों का त्याग किया; यह सामायिक चारित्र का रूप है और मैने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग किया, यह छेदोपस्थापना चारित्र का रूप है । जिस चारित्र में प्राणी हिंसा की पूर्ण निवृति होने से विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं । जिसने अपने जन्म से तीस वर्ष की अवस्था तक सुख पूर्वक जीवन बिताया हो, और फिर जिन दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकर के निकट प्रत्याख्यान नाम के नौवें पूर्व को पढ़ा हो और तीनों सन्धया कालों को छोड़ कर दो कोस विहार करने का जिसके नियम हो, उस दुर्द्धर चर्या के पालक महामुनि को ही परिहार विशुद्धि चारित्र होता है । इस चारित्र वाले के शरीर से जीवों का घात नहीं होता इसी से इसका नाम परिहार विशुद्धि है । अत्यन्त सूक्ष्म कषाय के होने से सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं । समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से जैसा आत्मा का निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है । इस चारित्र को अथाख्यात

भी कहते हैं क्योकि अथ शब्द का अर्थ अनन्तर है और यह समस्त मोहनीय के क्षय अथवा उपशम होने के अन्तर ही होता है । तथा इसे यथाख्यात भी कहते हैं ; क्योंकि जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसा ही इस चारित्र का स्वरूप है । सूत्र में जो यथाख्यात के बाद 'इति' शब्द है वह यह बतलाता है कि यथाख्यात चारित्र से सकल कर्मो का क्षय की पूर्ति हो जाती है ॥१८॥

आगे तप का कथन करते हैं । तप के दो भेद है – बाह्य तप और अभ्यन्तर तप । इनमे भी प्रत्येक के छह भेद हैं ।

पहले बाह्य तप के छह भेद कहते हैं-

अनशानावमौदर्य- वृतिपरिसंख्यान - रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन- कायक्लेशा: बाह्य तप: ॥१९॥

अर्थ – अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश ये छह बाह्य तप के भेद हैं । ख्याति, पूजा, मन्त्र सिद्धि, वगैरह लौकिक फल की अपेक्षा न करके, संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मो का विनाश, ध्यान तथा स्वाध्याय की सिद्धि के लिए भोजन का त्याग करना अनशन तप है । संयम को जागृत रखने के लिए, विचारों की शान्ति के लिए, संतोष और स्वाध्याय आदि की सुख पूर्वक सिद्धि के लिए अल्प आहार करना अवमौदर्य तप है । जब मुनि भिक्षा के लिए निकले तो घरों का नियम करना कि मैं आहार के लिए इतने घर जाऊँगा अथवा अमुक रीति से आहार मिलेगा तो लूंगा, इसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते है । यह तप भोजन की आशा को रोकने के लिए किया जाता है । इन्द्रियों के दमन के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए तथा सुखपूर्वक स्वाध्याय करने के लिए घी, दूध, दही, तेल, मीठा, और नमक का यथायोग्य त्याग करना रस परित्याग तप है । बह्मचर्य स्वाध्याय, ध्यान आदि की सिद्धि के लिए एकान्त स्थान में शयन करना तथा आसन

लगाना विविक्त शय्यासन तप है। कष्ट सहने के अभ्यास के लिए, आराम तलबी की भावना को दूर करने के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए ग्रीष्म ऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान लगाना, शीत ऋतु में खुले हुए मैदान में सोना, अनेक प्रकार के आसन लगाना आदि कायक्लेश तप है। बाह्य द्रव्य खान पान आदि की अपेक्षा से ये तप किये जाते हैं, तथा इन तपों का पता दूसरे लोगों को भी लग जाता है इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

शंका – परीषह में और कायक्लेश तप में क्या अन्तर है ?

समाधान – कायक्लेश स्वयं किया जाता है और परीषह अचानक आ जाती है ॥१९॥

अब अभ्यन्तर तप के भेद कहते हैं -

प्रायश्चित्त - विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-
व्युत्सर्ग - ध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

अर्थ – प्रत्तश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं। ये तप मन को वश में करने के लिए किये जाते हैं इसलिए इन्हें अभ्यंतर तप कहते हैं। प्रमाद से लगे हुए दोषों को दूर करना प्रायश्चित्त तप है। पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। शरीर वगैरह के द्वारा सेवा सुश्रुषा करने को वैयावृत्य कहते हैं। आलस्य त्याग कर ज्ञान का आराधन करना स्वाध्याय है। ममत्व के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। और चित्त की चंचलता के दूर करने को ध्यान कहते हैं ॥२०॥

इसके बाद इन अभ्यन्तर तपों के उप-भेदों की संख्या कहते हैं-

नव-चतुदर्श-पंच-द्वि भेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थ – प्रायश्चित के नौ भेद हैं। विनय के चार भेद है। वैयावृत्य के दस भेद हैं। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं और व्युत्सर्ग के दो भेद हैं। इस तरह

ध्यान से पहले पाँच प्रकार के तपों के ये भेद हैं ॥२१॥

अब प्रायश्चित्त के नौ भेद कहते हैं -

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-
व्युत्सर्ग-तप-च्छेद-परिहारोपस्थापना: ॥२२॥

अर्थ – आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय यानी आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, च्छेद, परिहार और उपस्थापना ये नौ भेद प्रायश्चित्त के हैं।

गुरु से अपने प्रमाद को निवेदन करने का नाम आलोचना है। वह आलोचना दस दोषों को बचाकर करनी चाहिये। वे दोष इस प्रकार के हैं – आचार्य अपने ऊपर दया करके थोडा प्रायश्चित दें, इस भाव से आचार्य को पीछी कमण्डलु आदि भेंट करके दोष का निवेदन करना आकम्पित दोष है। गुरु की बातचीत से प्रायश्चित्त का अनुमान लगाकर दोष का निवेदन करना अनुमापित दोष है। जो दोष किसी ने करते नही देखा उसे छिपा जाना और जो दोष करते देख लिया उसे गुरु से निवेदन करना दृष्ट दोष है। केवल स्थूल दोष का निवेदन करना बादर दोष है। महान् प्रायश्चित के भय से महान दोष को छिपा लेना और छोटे दोष का निवेदन करना सूक्ष्म दोष है। दोष निवेदन करने से पहले गुरु से पूछना कि महाराज! यदि कोई ऐसा दोष करे तो उसका क्या प्रायश्चित्त होता है, यह छन्न दोष है। प्रतिक्रमण के दिन जब बहुत से साधु एकत्र हुए हों और खूब हल्ला हो रहा हो उस समय दोष का निवेदन करना, जिससे कोई सुन न सके, शब्दाकुलित दोष है। गुरु ने जो प्रायश्चित दिया है वह उचित है या नहीं, ऐसी आशंका से अन्य साधुओं से पूछना बहुजन नाम का दोष है। गुरु से दोष न कहकर अपने सहयोगी अन्य साधुओं से अपना दोष कहना अव्यक्त नाम का दोष है। गुरु से प्रमाद का निवेदन न करके, जिस साधुने अपने समान अपराध किया हो उससे जाकर पूछना कि तुझे गुरु ने

क्या प्रायश्चित दिया है, क्योकि तेरे समान ही मेरा भी अपराध है। जो प्रायश्चित तुझे दिया है वही मेरे लिए भी युक्त है, यह तत्सेवी नाम का दोष है। इस तरह दोष रहित प्रमाद का निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित है ।

प्रमाद से जो दोष मुझ से हुआ वह मिथ्या हो इस तरह अपने किये हुए दोष के विरुद्ध अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को प्रकट करना प्रतिक्रमण है। कोई अपराध तो केवल आलोचना से ही शुद्ध हो जाता है और कोई प्रितक्रमण से शुद्ध होता है और कोई आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो से शुद्ध होता है यही तदुभय प्रायश्चित है । सदोष आहार तथा उपकरणों का संसर्ग होने पर उसका त्याग करना विवेक प्रायश्चित है । कुछ समय के लिए कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित है । अनशन आदि करना तप प्रायश्चित है । दीक्षा के समय को छेद देना, जैसे कोई बीस वर्ष की दीक्षित साधु है, अपराध करने के कारण उसकी दस वर्ष की दीक्षा छेद दी गयी अतः अब वह दस वर्ष का दीक्षित माना जायेगा और जो दस वर्ष के एक दिन अधिक के भी दीक्षित साधु है उन्हें इसे नमस्कार आदि करना होगा । यह छेद प्रायश्चित्त है । कुछ समय के लिए संघ से निकाल देना परिहार प्रायश्चित है। और पुरानी दीक्षा को छेदकर फिर से दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित है ॥२२॥

अब विनय तप के भेद कहते हैं -

ज्ञान- दर्शन- चरित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थ – ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ये चार भेद विनय के हैं । आलस्य त्यागकर आदरपूर्वक सम्यग्ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना आदि ज्ञान विनय है । तत्वार्थ का शङ्का आदि दोषरहित श्रद्धा करना दर्शन विनय है । अपने मन को चारित्र के पालन में लगाना चारित्र विनय है । आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर

उनके लिए उठना, सन्मुख जाकर हाथ जोड़कर वन्दना करना तथा परोक्ष में भी उन्हें नमस्कार करना, उनके गुणों का स्मरण करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, ये सब उपचार विनय हैं ॥२३॥

अब वैयावृत्य तप के भेद कहते हैं-

*आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-
कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥*

अर्थ – आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ, इन दस प्रकार के साधुओं की अपेक्षा से वैयावृत्य के दस भेद हैं । जिनके पास जाकर सब मुनि व्रताचरण करते हैं उन्हे आचार्य कहते हैं । जिनके पास जाकर मुनिगण शास्त्राभ्यास करते हैं उन्हे उपाध्याय कहते हैं । जो साधु बहुत व्रत उपवास आदि करते हैं उन्हे तपस्वी कहते हैं । जो साधु श्रुत का अभ्यास करते हैं उन्हे शैक्ष कहते हैं । रोगी साधुओं को ग्लान कहते हैं । वृद्ध मुनियों की परिपाटी में जो मुनि होते हैं उन्हें गण कहते हैं । दीक्षा देनेवाले आचार्य की शिष्य परम्परा को कुल कहते हैं । ऋषि, यति और अनगार के भेद से चार प्रकार के साधुओं के समूह को संघ कहते हैं । अथवा मुनि, आर्यिका का और श्रावक- श्राविका के समूह को संघ कहते हैं । बहुत समय के दीक्षित मुनि को साधु कहते हैं । जिसका उपदेश लोकमान्य हो अथवा जो लोक में पूज्य हो उस साधु को मनोज्ञ कहते हैं । इनको कोई व्याधि हो जाये या कोई उपसर्ग आ जाये या किसी का श्रद्धान विचलित होने लगे तो उसका प्रतिकार करना, यानी रोग का इलाज करना, संकट को दूर करना, उपदेश आदि के द्वारा श्रद्धान को दृढ करना वैयावृत्य है ॥२४॥

अब स्वाध्याय तप के भेद कहते हैं-

वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽम्नाय-धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ – वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच

स्वाध्याय के भेद हैं। धर्म के इच्छुक विनयशील पात्रों को शास्त्र देना, शास्त्र का अर्थ बतलाना तथा शास्त्र भी देना और उसका अर्थ भी बतलाना वाचना है। संशय को दूर करने के लिये अथवा निश्चय करने के लिए विशिष्ट ज्ञानियों से प्रश्न करना पृच्छना है। जाने हुए अर्थ का मन से अभ्यास करना अर्थात् उसका बार-बार विचार करना अनुप्रेक्षा है। शुद्धता पूर्वक पाठ कराना आम्नाय है। धर्म का उपदेश करना धर्मोपदेश है। इस तरह स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। स्वाध्याय करने से ज्ञान बढ़ता है, वैराग्य बढ़ता है, तप बढ़ता है, व्रतों में अतिचार नहीं लगने पाता तथा स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई सरल उपाय मन को स्थिर करने का नहीं है। अत: स्वाध्याय करना हितकर है ॥२५॥

अब व्युत्सर्ग तप के भेद कहते हैं-

बाह्याभ्यन्तरोपध्यो : ॥२६॥

अर्थ - त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके दो भेद हैं-बाह्य उपधि त्याग और अभ्यन्तर उपधि त्याग। आत्मा से जुदे धनधान्य वगैरह का त्याग करना बाह्य उपधि त्याग है और क्रोध, मान, माया आदि भावों का त्याग करना अभ्यन्तर उपधि त्याग है। कुछ समय के लिए अथवा जीवन भरके लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना भी अभ्यन्तरोपधि त्याग ही कहा जाता है। इसके करने से मनुष्य निर्भय हो जाता है, वह हल्कापन अनुभव करता है तथा फिर जीवन की तृष्णा उसे नहीं सताती ॥२६॥

अब ध्यान का वर्णन करते हैं-

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

अर्थ - उत्तम संहनन के धारक मनुष्य का अपने चित की वृति को सब ओर से रोककर एक ही विषय मे लगाना ध्यान है यह ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है।

विशेषार्थ - आदि के तीन संहनन उत्तम हैं। वे ही ध्यान के कारण हैं। किन्तु उनमें से मोक्ष का कारण एक वज्रवृषभ नाराच संहनन ही है। अन्य संहनन वाले का मन अन्तर्मुहूर्त भी एकाग्र नही रह सकता।

शंका - यदि ध्यान अन्तमुहुर्त तक ही हो सकता है तो आदिनाथ भगवान ने छह मास तक ध्यान कैसे किया?

समाधान - ध्यान की सन्तान को भी ध्यान कहते है। अत: एक विषय में लगाकर ध्यान तो अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है। उसके बाद ध्येय बदल जाता है। और ध्यान की सन्तान चलती रहती है। अस्तु।

इस सूत्र मे तीन बातें बतलायी हैं-ध्याता, ध्यान का स्वरूप और ध्यान का काल। सो उत्तम संहनन का धारी पुरुष तो ध्याता हो सकता है। एक पदार्थ को लेकर उसी में चित को स्थिर कर देना ध्यान है। जब विचार का विषय एक पदार्थ न होकर नाना पदार्थ होते हैं तब वह विचार ज्ञान कहलाता है। जब वह ज्ञान एक ही विषय में स्थिर हो जाता है तब उसे ही ध्यान कहते हैं। उस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त होता है ॥२७॥

अब ध्यान के भेद कहते हैं-

आर्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ॥२८॥

अर्थ - ध्यान के चार भेद होते हैं - आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। इनमें से आदि के दो ध्यान अशुभ हैं, उनसे पाप का बन्ध होता है। शेष दो ध्यान शुभ हैं, उनके द्वारा कर्मो का नाश होता है ॥२८॥

यही बात कहते हैं-

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

अर्थ - अन्त के धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं। इससे यह मतलब निकला कि आदि के आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं॥२९॥

अब आर्त ध्यान के भेद और उनके लक्षण कहते हैं-

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

अर्थ – विष, कांटा, शत्रु, आदि अप्रिय वस्तुओं का समागम होने पर उनसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए बार बार चिन्तवन करना अनिष्ट संयोग नामक आर्त ध्यान है ॥३०॥

दूसरा भेद कहते हैं-

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थ – पुत्र, धन, स्त्री, आदि प्रिय वस्तुओं का वियोग हो जाने पर उनसे मिलन होने का बार बार चिन्तन करना इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान है ॥३१॥

तीसरा भेद कहते हैं-

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थ – वात आदि के विकार शरीर मे कष्ट होने पर रात दिन उसी की चिन्ता करना वेदना नामक आर्तध्यान है ॥३२॥

निदानं च ॥३३॥

अर्थ – भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर रात दिन आगामी भोगों को प्राप्त करने की ही चिन्ता करते रहना निदान आर्तध्यान है। इस तरह आर्तध्यान के चार भेद हैं ॥३३॥

अब, आर्तध्यान किसको होता है, यह बतलाते हैं -

तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

अर्थ – वह आर्तध्यान अविरत यानि पहले, दूसरे, तीसरे, और चतुर्थ गुणस्थान वालों के, देश विरत श्रावकों के और प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनियों के होता है। परन्तु प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनियों के निदान नहीं होता। बाकी के तीन आर्तध्यान प्रमाद के उदय से जब कभी

हो जाते हैं ॥३४॥

अब रौद्रध्यान के भेद और उनके स्वामियो को बताते हैं-

हिंसाऽनृत-स्तेय-विषय संरक्षणेभ्यो रोद्रमविरत-देशविरतयोः ॥३५॥

अर्थ – हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह संचय करने की चिन्ता करते रहने से रौद्रध्यान होता है। यह रौद्रध्यान पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान वालों के तथा देश विरत श्रावको के होता है। किन्तु संयमी मुनि के नहीं होता; क्योंकि यदि कदाचित मुनि को भी रौद्रध्यान हो जाये तो फिर वे संयम से भ्रष्ट समझे जायेंगे।

शंका – जो व्रती नहीं हैं उनके रौद्रध्यान भले ही हो, किन्तु देशव्रती श्रावक के कैसे हो सकता है?

समाधान – श्रावक पर अपने धर्मायतनों की रक्षा का भार है, स्त्री, धन वगैरह की रक्षा करना उसे अभीष्ट है, अतः इनकी रक्षा के लिए जब कभी हिंसा के आवेश में आ जाने से रौद्रध्यान हो सकता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि होने के कारण उसके ऐसा रौद्रध्यान नहीं होता जो उसको नरक में ले जाये ॥३५॥

अब धर्म ध्यान का स्वरूप बतलाते हैं-

आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थ – आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय, ये धर्म ध्यान के चार भेद हैं। अच्छे उपदेष्टा के न होने से, अपनी बुद्धि के मन्द होने से और पदार्थ के सूक्ष्म होने से जब युक्ति और उदाहरण की गति न हो तो ऐसी अवस्था में सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गये आगम को प्रमाण मानकर गहन पदार्थ का श्रद्धान कर लेना कि यह ऐसा ही है, आज्ञा विचय है। अथवा स्वयं तत्त्वों का जानकार होते हुए भी

दूसरों को उन तत्त्वों को समझाने के लिए युक्ति दृष्टान्त आदि का विचार करते रहना, जिससे दूसरों को ठीक-ठीक समझाया जा सके, आज्ञा विचय है; क्योंकि उसका उद्देश्य संसार में जिनेन्द्र देव की आज्ञा का प्रचार करना है। जो लोग मोक्ष के अभिलाषी होते हुए भी कुमार्ग में पड़े हुए हैं उनका विचार करना कि कैसे वे मिथ्यात्व से छूटें, इसे अपाय विचय कहते हैं। कर्म के फलका विचार करना विपाक विचय है। लोक के आकार का तथा उसकी दशा का विचार करना संस्थान विचय है। ये धर्म ध्यान अविरत, देश विरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुणस्थान वाले जीवों के ही होते हैं ॥३६॥

अब शुक्ल ध्यान के स्वामी बतलाते हैं-

शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: ॥३७॥

अर्थ – आदि के दो शुक्ल ध्यान सकल श्रुत के धारक श्रुत केवली के होते हैं। 'च' शब्द से धर्मध्यान भी ले लेना चाहिए। अत: श्रेणि पर चढने से पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणि चढ़ने पर क्रम से दोनों शुक्ल ध्यान होतें हैं ॥३७॥

अब बाकी के दो शुक्ल ध्यान किसके होते हैं, यह बतलाते हैं-

परे केवलिन: ॥३८॥

अर्थ – अन्त के दो शुक्ल ध्यान सयोग केवली और अयोग केवली के होते हैं ॥३८॥

अब शुक्ल ध्यान के भेद बतलाते हैं -

पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-
व्युपरत-क्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

अर्थ – पृथक्त्ववितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान के भेद हैं। ये सब नाम सार्थक हैं।

इनका लक्षण आगे कहेंगे ॥३९॥

अब शुक्लध्यान का आलम्बन बतलाते हैं -

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

अर्थ – पहला शुक्लध्यान तीनों योगों में होता है। दूसरा शुक्लध्यान तीनों योगों में से एक योग में होता है। तीसरा शुक्लध्यान काय योग में ही होता है ॥४०॥

अब आदि के दो शुक्ल ध्यानों का विशेष कथन करते हैं-

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थ – आदि के दोनों शुक्ल ध्यान पूर्ण श्रुतज्ञानी के ही होते हैं; अत: दोनों का आधार एक ही है। तथा दोनों वितर्क और वीचार से सहित हैं ॥४१॥

इस कथन में थोड़ा अपवाद करते हैं-

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ – किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार रहित है। अर्थात् पहला शुक्लध्यान तो वीतर्क और वीचार दोनों से सहित है। किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीतर्क से सहित है पर वीचार से रहित है ॥४२॥

अब वीतर्क का लक्षण कहते हैं -

वीतर्क: श्रुतम् ॥४३॥

अर्थ – विशेष रूप से तर्क अर्थात् विचार करने को वितर्क कहते हैं। वितर्क नाम श्रुतज्ञान का है ॥४३॥

अब वीचार का लक्षण कहते हैं-

वीचारोऽर्थ-व्यंजन-योगसंक्रांन्ति: ॥४४॥

अर्थ – अर्थ से मतलब उस द्रव्य या पर्याय से है जिसका ध्यान किया

जाता है । व्यंजन का अर्थ वचन है और मन-वचन-काय की क्रिया को योग कहते हैं । तथा संक्रान्ति का अर्थ परिवर्तन है । ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोडकर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात् ध्यान के विषय का बदलना अर्थ संक्रान्ति है । श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य का सहारा लेना, उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्य का सहारा लेना, इस तरह ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यंजन संक्रान्ति कहते हैं । काययोग को छोड़कर अन्य योग का ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर काययोग को ग्रहण करना योग संक्रान्ति है । इन तीनो प्रकार की संक्रान्ति को वीचार कहते हैं । जिस ध्यान में इस तरह का वीचार होता है वह वीचार सहित है और जिसमे वीचार नहीं होता वह वीचार रहित है ।

विशेषार्थ – अभ्यस्त साधु ही इस चार प्रकार के शुक्ल ध्यान को संसार से छूटने के लिए ध्याते हैं । उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है- सब से प्रथम ध्यान के लिए ऐसा स्थान चुनना चाहिये जो एकदम एकान्त हो, जहाँ न मनुष्य का संचार हो, न सर्प, सिंह आदि पशुओं का उत्पात हो, जो न अति गरम हो और न अति शीतल, हवा और वर्षा की भी बाधा जहाँ न हो । सारांश यह है कि चित को चंचल करने का कोई साधन जहाँ न हो, ऐसे स्थान पर किसी साफ सुथरी जमीन में पल्यंकासन लगाकर अपने शरीर को सीधा रक्खें और अपनी गोदी मे बाँए हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रक्खें । नेत्र न एक दम बन्द हों और न एकदम खुले हों । दृष्टि सौम्य और स्थिर हो । दांत से दांत मिले हों । मुख थोडा उठा हुआ हो, प्रसन्न हो । श्वासोच्छ्वास मन्द मन्द चलता हो । ऐसी स्थिति मे मन को नाभि देश में, हृदय में अथवा मस्तक वगैरह में एकाग्र करके मुमुक्षु को शुभ ध्यान करना चाहिये । सो जब साधु सातवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थान में जाता है तब द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु का ध्यान करता है । उस समय उसका मन ध्येय में और वाक्य में तथा

काय योग और वचन योग मे घूमता रहता है । अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योग की संक्राति रूप वीचार चलता रहता है । जैसे कोई बालक हाथ में ठूंठी तलवार लेकर उसे ऐसे उत्साह से चलाता है मानों वृक्ष को काट डालता है वैसे ही वह ध्याता भी मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम के शुक्ल ध्यान को करता है । वही ध्याता जड़मूल से मोहनीय कर्म को नष्ट करने की इच्छा से पहले से अनन्त गुणा विशुद्ध ध्यान का आलंबन लेकर, अर्थ व्यंजन और योग की संक्रान्ति को हटाकर मन को निश्चल करके जब बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तो फिर ध्यान लगाकर पीछे नहीं हटता इसलिए उसे एकत्व वितर्क वीचार ध्यान वाला कहते हैं। इस एकत्ववितर्क ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी ईंधन को जला देने पर, जैसे मेघ पटल के हट जाने पर मेघों में छिपा हुआ सूर्य प्रकट होता है वैसे ही कर्मों का आवरण हट जाने पर केवल ज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हो जाता है । उस समय वह तीर्थंकर केवली अथवा सामान्य केवली होकर अपनी आयु पर्यन्त देश में विहार करते हैं। जब आयु अन्तर्मुहुर्त बाकी रहती है और वेदनीय नाम तथा गोत्रकर्म की स्थिति भी अन्तर्मुहुर्त ही शेष होती है तो वह समस्त वचन योग, मनोयोग और बादर काय योग को छोड़कर सूक्ष्म काय योग का आलम्बन लेकर सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति ध्यान को करते हैं । किन्तु यदि आयु कर्म की स्थिति अन्तर्मुहुर्त शेष हो और शेष तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो तो केवली समुद्घात करते हैं । उसमें आठ समय लगते हैं । पहले समय में आत्म प्रदेशों को फैलाकर दण्ड के आकार करते हैं, दूसरे समय में कपाट के आकार करते हैं, तीसरे समय मे प्रतररूप करते हैं और चौथे समय में अपने आत्म प्रदेशों से लोक को पूर देते हैं । पाँचवे समय में लोक पूरण से प्रतररूप, छठे समय मे प्रतर से कपाट रूप और सातवें समय मे कपाट से दण्ड रूप करते हैं । आठवें समय में बाहर निकले हुए आत्म प्रदेश फिर शरीर में प्रविष्ट होकर ज्यों के त्यों हो जाते हें।

इस तरह चार समय में प्रदेशों का विस्तार और चार समय में प्रदेशों का संकोच करने से शेष तीन कर्मों की स्थिति भी आयु के समान अन्तर्मुहुर्त शेष रह जाती है। उस समय वे सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्लध्यान करते हैं। इसके बाद समुच्छिन्न-क्रिया-निवर्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान करते हैं। इस ध्यान के समय श्वासोच्छ्वास का संचार, समस्त मनोयोग, वचनयोग, काययोग और समस्त प्रदेशों का हलन चलन आदि क्रिया रुक जाती है। इसीलिए इसे समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति कहते हैं। इसके होने पर समस्त बन्ध और आस्त्रव रुक जाता है और समस्त बचे हुए कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः मोक्ष के साक्षात् कारण यथाख्यात चारित्र, दर्शन और ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं। तब वह अयोग केवली समस्त कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि से जलाकर किट्टकालिमा से रहित शुद्ध सुवर्ण की तरह निर्मल आत्म रूप होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इस तरह दोनों प्रकार का तप नवीन कर्मो के आस्त्रव को रोकने के कारण संवर का भी कारण है और पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने का कारण होने से निर्जरा का भी कारण है ॥४४॥

आगे बतलाते हैं कि सब सम्यग्दृष्टियों के समान निर्जरा नहीं होती-

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशम-कोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जराः ॥४५॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थान-वर्ती श्रावक, महाव्रती मुनि, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले, दर्शन मोह का क्षय करनेवाले, चारित्र मोह का उपशम करनेवाले, उपशान्तमोह यानी ग्यारहवें गुणस्थान वाले, क्षपक श्रेणी चढ़नेवाले, क्षीण-मोह यानी बारहवें गुणस्थानवाले और जिन भगवान के परिणामों की विशुद्धता अधिक- अधिक होने से

प्रति समय क्रम से असंख्यात गुणी, असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

विशेषार्थ - जब मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए तीन करण करता है उस समय उसके आयुकर्म के सिवा शेष सात कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। वह जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो उसके पहले से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वह जब श्रावक हो जाता है तो उसके सम्यग्दृष्टि से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। श्रावक से जब वह सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि हो जाता है तो उसके श्रावक से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। जब वह मुनि होकर अनन्तानुबन्धी कषाय को शेष कषाय रूप परिणमा कर उसका विसंयोजन करता है तो उसके मुनि से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। उसके बाद जब वह दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करता है तो उसके विसंयोजन काल से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। जब वह उपशम श्रेणी चढता है तो उसके दर्शन मोह क्षपक से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। उसके बाद जब वह समस्त मोहनीय कर्म का उपशम करके उपशान्त कषाय गुणस्थानवाला हो जाता है तो उसके उपशम अवस्था में भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जीव जब उपशम श्रेणी से गिरने के बाद क्षपक श्रेणी पर चढता है तो उसके ग्यारहवें गुणस्थान से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जब समस्त मोहनीय कर्म का क्षय करके क्षीण कषाय हो जाता है तो उसके क्षपक अवस्था से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जब समस्त घातिया कर्मों को नष्ट करके केवली हो जाता है तो उसके क्षीण कषाय से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। साराँश यह है कि इन दस स्थानों को प्राप्त होने वाले जीवों के परिणाम उत्तरोत्तर अधिक-अधिक विशुद्ध होते हैं अतः इनके कर्मों की निर्जरा भी असंख्यात गुनी होती है। इतना ही नहीं जहाँ उत्तरोत्तर निर्जरा असंख्यात गुनी होती जाती है। वहाँ निर्जरा का काल असंख्यातवें भाग, असंख्यातवें भाग घटता जाता है। जैसे, जिन भगवान के निर्जरा का काल सब से कम है उससे संख्यात गुना

काल क्षीण कषाय का है। इस तरह यद्यपि निर्जरा का काल सातिशय मिथ्यादृष्टि तक अधिक अधिक होता है किन्तु सामान्य से प्रत्येक का निर्जरा काल अन्तमुहुर्त ही है। इस उत्तरोत्तर कम कम काल में कर्मों की निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती है।

अब निर्गन्थो के भेद कहते हैं -

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रंन्थ-स्नातका निर्ग्रंन्था: ।।४६।।

अर्थ - पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंन्थ और स्नातक ये पाँचो निर्ग्रंन्थ कहे जाते हैं। जिनके उत्तर गुणों की तो भावना भी न हो और मूल गुणों में भी कभी कभी दोष लगा लेते हों उन साधुओं को पुलाक कहते हैं। पुलाक नाम पुवाल सहित चावल का है। पुवाल सहित चावल की तरह मलिन होने से ऐसे साधुको पुलाक कहते हैं। जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने के लिए सदा तत्पर हों और जिनके मूल गुण निर्दोष हों किन्तु शरीर, पीछी वगैरह उपकरणों से जिन्हें मोह हो उन मुनि को बकुश मुनि कहते हैं। बकुश का अर्थ चितकबरा है। जैसे सफेद पर काले धब्बे होते हैं वैसे ही उन मुनियों के निर्मल आचार में शरीर आदि का मोह धब्बे की तरह होता है। इसीसे वे बकुश कहे जाते हैं। कुशील साधु के दो भेद हैं-प्रतिसेवना-कुशील और कषाय-कुशील। जिनके मूल गुण और उत्तर गुण दोनो ही पूर्ण हों किन्तु कभी- कभी उत्तर गुणों में दोष लग जाता हो उन साधुओं को प्रतिसेवना-कुशील कहते हैं। जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को तो वश मे कर लिया है किन्तु संज्वलन कषाय के उदय को वश मे नहीं किया है उन साधुओं को कषाय-कुशील कहते हैं। जिनके मोहनीय कर्म का तो उदय ही नही हैं और शेष घातिकर्मों का उदय भी ऐसा है जैसे जल में लाठी से खींची हुई लकीर। तथा अन्तर्मुहुर्त के बाद ही जिन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रकट होने वाला है उन्हें निग्रन्थ कहते हैं। जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं उन केवलियों को स्नातक

कहते हैं। ये पाँचों ही सम्यग्द्रष्टि होते हैं और बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी होते हैं। इसलिए चारित्र की हीनाधिकता होने पर भी इन पाँचों को ही निर्ग्रंन्थ कहा है ।।४३।।

इन पुलाक आदि मुनियों की और भी विशेषता बतलाते हैं -

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-

लेश्योपपाद-स्थान विकल्पत: साध्या:।।४७।।

अर्थ - संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से पुलाक आदि मुनियों में भेद जानना चाहिये।

विशेषार्थ - पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना-कुशील मुनि के सामायिक और छेदोपस्थापना, संयम होता है। कषाय को शीत भूमि के सामायिक छेदों पर परिहार विशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयम ही होता है। निर्ग्रंन्थ और स्नातक के एक यथाख्यात संयम ही होता है। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना-कुशील मुनि अधिक से अधिक पूरे दस पूर्वके ज्ञाता होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रंन्थ चौदह पूर्वो के ज्ञाता होते हैं। और कम से कम पुलाक मुनि आचारांग के ज्ञाता होते हैं, बकुश, कुशील और निर्ग्रंन्थ पाँच समिति और तीन गुप्तियों के ज्ञाता होते हैं। स्नातक तो केवलज्ञानी होते हैं अत: उनके श्रुताभ्यास का प्रश्न नहीं है। प्रतिसेवना का मतलब व्रतों में दोष लगाना है। पुलाक मुनि पाँच महाव्रतों में तथा रात्रि भोजन त्यागव्रत में से किसी एक में परवश होकर कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं। बकुश मुनि के दो भेद हैं-उपकरण-बकुश और शरीर बकुश। उपकरण-बकुश मुनि को सुन्दर उपकरणों में आसक्ति रहने से विराधना होती है। और शरीर-बकुश मुनि की अपने शरीर में आसक्ति होने से विराधना होती है। प्रतिसेवना-कुशील मुनि उत्तर गुणों में कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं। कषाय-कुशील निर्ग्रंन्थ और स्नातक के

प्रतिसेवना नही होती; क्योंकि त्यागी हुई वस्तु का सेवन करने से प्रतिसेवना होती है, सो ये करते नहीं हैं। तीर्थ यानी सभी तीर्थङ्करों के तीर्थ में पाँचो प्रकार के निर्ग्रन्थ पाये जाते हैं। लिंग के दो भेद हैं - द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा तो पाँचो ही निर्ग्रन्थ भावलिंगी हैं- क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि और संयमी होते हैं। द्रव्य लिंग की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हुए भी स्नातक के पीछी कमण्डलु उपकरण नही होते शेष के होते हैं। अतः द्रव्य लिंग में थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। पुलाक के तीन शुभ लेश्याएँ भी होती हैं क्योकि उपकरणो में आसक्ति होने से कभी अशुभ लेश्याएँ भी हो सकती हैं। कषाय, कुशील के कृष्ण और नील के सिवा बाकी की चार लेश्याएँ होती हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोग केवली की लेश्या ही नहीं होती। उपपाद पुलाक मुनि भूमि से अधिक बकुश और प्रतिसेवना कुशील बाईस सागर की स्थितिवाले आरण और अच्युत स्वर्ग मे उत्पन्न होते हैं। कषाय कुशील और ग्यारहवें गुणस्थान वाले निर्ग्रन्थ तैंतीस सागर की स्थितिवाले सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होते हैं। इन सबकी उत्पति कम से कम सौधर्म कल्प में होती है, और स्नातक तो मोक्ष जाता है। इसी तरह संयम के स्थानों की अपेक्षा भी इनमें अन्तर होता है ॥४६॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेनवमोऽध्यायः ॥९॥

हमारे भावों को व्यक्त करता है मस्तिष्क नाड़ी तंत्र विचार से भाव नहीं बनता किन्तु भाव से विचार बनता है। जिस लेश्या का भाव होता है, वैसा ही विचार बन जाता है। भाव अंतरंग तंत्र है और विचार कर्म तंत्र। इसलिए हमें विचारों की अपेक्षा भावों पर अधिक ध्यान देने की जरूरत है।

दशम अध्याय

अब अन्तिम तत्त्व मोक्ष का कथन किया जाता है। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान पूर्वक होती है अतः पहले केवल ज्ञान की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं -

मोहक्षयात्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ - मोहनीय कर्म के क्षय से और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय होने से केवल ज्ञान प्रकट होता है। सारांश यह है कि पहले मोहनीय कर्म को क्षय करके अन्तमुहुर्त तक क्षीण कषाय नाम के गुणस्थान से जीव रहता है। फिर उसके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को एक साथ नष्ट करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसी से 'मोहक्षयात्' पद अलग लिखा है ॥१॥

अब मोक्ष का लक्षण और मोक्ष के कारण बतलाते हैं-

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्सन-कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थ - बन्ध के कारणों का अभाव होने से तथा निर्जरा से समस्त कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाना मोक्ष है।

विशेषार्थ - मिथ्यादर्शन आदि कारणों का अभाव हो जाने से नये कर्मों का बन्ध होना रुक जाता है और तप वगैरह के द्वारा पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतः आत्मा समस्त कर्म बन्धनों से छूट जाता है। इसीका नाम मोक्ष है। सो कर्म का अभाव दो प्रकार से होता है। कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका अभाव चरम शरीरी के स्वयं हो जाता है। जैसे, नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायु का सत्व चरम शरीरी के नहीं होता अतः इन तीन प्रकृतियों का अभाव तो बिना यत्न के ही रहता है शेष के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। अतः चौथे, पाँचवे, छट्ठे और सातवें गुणस्थान में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का क्षय

करके जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद क्षपक श्रेणी पर चढ़कर नौवें गुणस्थान में क्रम से १६+८+१+१+६+१+१+१+१=३६ छत्तीस प्रकृतियों को नष्ट करके दसवें गुणस्थान में आ जाता है। वहाँ सूक्ष्म लोभ संज्वलन को नष्ट करके बारहवें गुणस्थान से जा पहुँचता है। बारहवें में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की ६ और अन्तराय की ५ प्रकृतियों को नष्ट करके केवली हो जाता है। इस तरह उसके ३+७+३६+१+१६=६३ त्रेसठ प्रकृतियों का अभाव हो जाता है जिनमें ४७ घाति कर्मों की और १६ अघाति कर्मों की प्रकृतियाँ हैं शेष ८५ प्रकृतियाँ रहती हैं जिनमें से ७२ प्रकृतियों का विनाश तो अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में करता है। १३ का विनाश उसी के अन्तिम समय मे करके मुक्त हो जाता है ॥२॥

अब प्रश्न यह है कि पौदगलिक द्रव्य कर्मों का नाश होने से ही मोक्ष होता है या भाव कर्मों के नाश से भी ? इसका उत्तर देते हैं-

औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ॥३॥

अर्थ – जीव के औपशमिक आदि भाव तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव के अभाव से मोक्ष होता है। आशय यह है कि औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव तो पूरे नष्ट हो जाते हैं और पारिणामिक भावों में से अभव्यत्व भाव तो मोक्ष गामी जीव के पहले से ही नहीं होता, जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव मुक्तावस्था में भी रहता है। अतः केवल भव्यत्व का अभाव हो जाता है ॥३॥

क्षायिक भाव शेष रहते हैं सो ही कहते हैं-

अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ – क्षायिक सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व को छोड़कर अन्य भावों का मुक्त जीव के अभाव हो जाता है।

शंका – यदि मुक्त जीव के ये चार ही क्षायिक भाव शेष रहते हैं तो अनन्त वीर्य, अनन्त सुख आदि भावों का भी अभाव कहलाया?

समाधान – नहीं कहलाया; क्योंकि अनन्त वीर्य आदि भाव अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के अविनाभावी हैं। अर्थात् अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के साथ ही अनन्त वीर्य होता है। जहाँ अनन्त वीर्य नहीं होता वहाँ अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन भी नहीं होते। रहा अनन्त सुख, सो वह अनन्त ज्ञानमय ही है; क्योंकि बिना ज्ञान के सुख का अनुभव नहीं होता।

शंका – मुक्त जीवों का कोई आकार नहीं है अतः उनका अभाव ही समझना चाहिये; क्योंकि जिस वस्तु का आकार नहीं वह वस्तु नहीं?

समाधान – जिस शरीर से जीव मुक्त होता है उस शरीर का जैसा आकार होता है वैसा ही मुक्त जीव का आकार रहता है।

शंका – यदि जीव का आकार शरीर के अनुसार ही होता है तो शरीरका अभाव हो जाने पर जीव को समस्त लोकाकाश में फैल जाना चाहिये; क्योंकि उसका स्वाभाविक परिणाम तो लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर बतलाया है ?

समाधान – यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार का कारण नामकर्म था। नामकर्म के कारण जैसा शरीर मिलता था उसीके अनुसार आत्म प्रदेशों में संकोच और विस्तार होता था मुक्त होने पर नाम कर्म का अभाव हो जाने से संकोच और विस्तार का भी अभाव हो गया ॥४॥

शंका – यदि कारण का अभाव होने से मुक्त जीव में संकोच विस्तार नहीं होता तो गमन का भी कोई कारण होने से; जैसे मुक्त जीव नीचे को नहीं जाता या तिरछा नहीं जाता वैसे ही ऊपर को भी उसे नहीं जाना चाहिये, बल्कि जहाँ मुक्त हुआ है वहीं सदा उसे रहना चाहिये ?

इसका समाधान करने के लिए आगे के सूत्र कहते हैं-

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।।५।।

अर्थ – समस्त कर्मों से छूटने के बाद ही जीव लोकके अन्त तक ऊपर को जाता है ।।५।।

अब ऊपर को जाने का कारण बतलाते हैं-

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।।६।।

अर्थ – पहल के संस्कार से, कर्म के भार से हल्का हो जाने से, कर्म बन्धन के कट जाने से और ऊपर को जाने का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊपर को ही जाता है ।।६।।

इसमें दृष्टांत देते हैं-

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड बीजवदग्निशिखावच्च ।।।७।।

अर्थ – ऊपर के सूत्र में कहे हुए हेतुओं को और इस सूत्र में कहे गये दृष्टान्तों को क्रम से लगाना चाहिये । जो इस प्रकार है । जैसे कुम्हार हाथ में डन्डा लेकर और उसे चाकपर रखकर घुमाता है तो चाक घूमने लगता है । उसके बाद कुम्हार डंडे को हटा लेता है फिर भी चाक जब तक उसमें पुराना संस्कार रहता है, घूमता है । इसीतरह संसारी जीव मुक्ति की प्राप्ति के लिए बार-बार प्रयत्न करता था कि कब मुक्ति गमन हो । मुक्त हो जाने पर वह भावना और प्रयत्न नहीं रहा । फिर भी पुराने संस्कार वश जीव मुक्ति की ओर गमन करता है । जैसे मिट्टी के भारसे लदी हुई तुम्बी जल में डूबी रहती है । किन्तु मिट्टी का भार दूर होते ही जलके ऊपर आ जाती है । वैसे ही कर्म के भार से लदा हुआ जीव कर्म के वश हो कर संसार में डूबा रहता है। किन्तु ज्यों ही उस भारसे मुक्त होता है तो ऊपर को ही जाता है । जैसे एरण्डके बीज एरण्ड के डोढ़ा में बन्द रहते हैं । जब डोढ़ा

सूखकर फटता है तो उछल कर ऊपर को ही जाते हैं । वैसे ही मनुष्य आदि भवों में ले जानेवाले गति नाम, जाति नाम आदि समस्त कर्म बन्ध के कट जाने पर आत्मा ऊपरको ही जाता है । जैसे वायुके न होने पर दीपक की लौ ऊपर को ही जाती है वैसे ही मुक्त जीव भी अनेक गतियों में ले जाने वाले कर्मों के अभाव में ऊपर को ही जाता है; क्योंकि जैसे आग का स्वभाव ऊपर को जाने का है वैसे ही जीव का स्वभाव भी ऊर्ध्व गमन ही है ।।७।।

अब प्रश्न यह होता है कि जब जीव का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है तो फिर मुक्त जीव लोक के अन्त तक ही क्यों जाता है? आगे क्यों नहीं जाता?

इस प्रश्न का समाधान करते हैं-

धर्मास्तिकायाभावात् ।।८।।

अर्थ – गतिरूप उपकार करनेवाला धर्मास्तिकाय द्रव्य लोक के अन्त तक ही है, आगे नहीं है । अतः मुक्त जीव लोक के अन्त तक ही जाकर ठहर जाता है, आगे नहीं जाता ।।९।।

अब मुक्त जीवों में परस्पर में भेद व्यवहार का कारण बतलाते हैं-

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।।९।।

अर्थ – क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व, इन बारह अनुयोगों के द्वारा सिद्धों में भेद का विचार करना चाहिये ।

विशेषार्थ – प्रत्युत्पन्न नय और भूतप्रज्ञापन नयकी विवक्षा से बारह अनुयोगों का विवेचन किया जाता है । जो नय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है अथवा यथार्थ वस्तुस्वरूप को ग्रहण करता है उसे प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं । जैसे ऋजुसूत्रनय या निश्चय नय। और जो नय अतीत पर्याय

को ग्रहण करता है उसे भूत-प्रज्ञापन नय कहते हैं। जैसे व्यवहार नय। क्षेत्र में इस बात का विचार किया जाता है कि मुक्त जीव की मुक्ति किस क्षेत्र से हुई। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा से सिद्धि क्षेत्र में, अपने आत्म प्रदेशों में अथवा जिस आकाश प्रदेशों में मुक्त होनेवाला जीव मुक्तिसे पूर्व स्थित था। उन आकाश प्रदेशों में मुक्ति होती है। भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा पन्द्रह कर्म भूमियों में उत्पन्न हुआ मनुष्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। किन्तु पन्द्रह कर्म भूमियों में से किसी भी कर्मभूमि के मनुष्य को यदि कोई हर कर ले जाये तो समस्त मनुष्य लोक के किसी भी स्थान से उसकी मुक्त हो सकती है। काल की अपेक्षा यह विचार किया जाता हैं कि किस काल में मुक्ति हुई- सो प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो एक समय में ही मुक्ति होती है। और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा सामान्य से तो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों ही कालों में मुक्ति होती है; विशेष से अवसर्पिणी काल के सुखमा-दुखमा नामक तीसरे काल के अन्त में जन्मे जीव और दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल में जन्मे जीव मोक्ष जाते हैं। गति में यह विचार किया जाता है कि किस गति से मुक्ति हुई ? सो प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो सिद्धि गति में ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा मनुष्य गति से ही मुक्ति मिलती है। लिंगमें विचार किया जाता है कि किस लिंग से मुक्ति हुई ? सो प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो वेद रहित अवस्था में ही मुक्ति होती है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा तीनों ही भाव वेदों से मुक्ति होती है, किन्तु द्रव्य से पुल्लिंग ही होना चाहिये। अथवा प्रत्युत्पन्न नयसे निग्रर्न्थ लिंगसे ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन नयसे संग्रंथ लिंगसे भी मुक्ति होती है। तीर्थका विचार करते हैं, कोई तो तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। उनमें भी कोई तीर्थंकर के विद्यमान रहते हुए मोक्ष जाते हैं, कोई तीर्थंकर के अभाव में मोक्ष जाते हैं। किस चारित्र से मुक्ति मिलती हैं ? प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो जिस भावसे मुक्ति होती है उस भाव को न तो चारित्र भी कहा

जा सकता है और न अचारित्र ही कहा जा सकता है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा अव्यवहित रूपसे तो यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और व्यवहित रूप से सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है। जिनके परिहार विशुद्धि चारित्र भी होता है उनको पाँचों ही चारित्रों से मोक्ष प्राप्त होता है। जो अपनी शक्तिसे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं और जो परके उपदेश से ज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें बोधित बुद्ध कहते हैं। सो कोई प्रत्येक बुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई बोधित बुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। किस ज्ञानसे मुक्ति होती है? प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो केवलज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा किन्हीं को मतिज्ञान और श्रुतज्ञानपूर्वक केवल ज्ञान होता है और किन्हीं को मति, श्रुत और अवधिज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है। किन्हीं को मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान पूर्वक केवलज्ञान बोता है तब मोक्ष जाते हैं। आत्म-प्रदेशों के फैलाव का नाम अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना पाँचसौ पच्चीस धनुष होती है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ होती है। मध्यम अवगाहना के बहुत से भेद हैं। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा से इन अवगाहनों में से किसी एक अवगाहना से मुक्ति प्राप्त होती है और प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा इससे कुछ कम अवगाहना से मुक्ति होती है; क्योंकि मुक्त जीवकी अवगाहना उसके अन्तिम शरीर से कुछ कम होती है। अन्तर मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव लगातार भी मुक्ति प्राप्त करते हैं और बीच बीच में अन्तर दे देकर भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। यदि जीव लगातार मोक्ष जायें तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक मुक्त होते रहते हैं। इसके बाद अन्तर पड़ जाता है। सो यदि कोई भी जीव मुक्त न हो तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह माह का अन्तर पड़ता है। संख्या एक समय में से कमसे कम एक जीव मुक्त होता है और अधिक से अधिक १०८ जीव मुक्त होते हैं। अल्पबहुत्व-

क्षेत्र आदि की अपेक्षा से जुदे-जुदे मुक्त जीवों की संख्या को लेकर परस्पर में तुलना करना अल्प-बहुत्व है। सो बतलाते हैं-

प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा से सब जीव सिद्धि क्षेत्र से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा जो किसी के द्वारा हरे जाकर मुक्त हुए, ऐसे जीव थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुने जन्म सिद्ध हैं। तथा ऊर्ध्व लोक से मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उनसे असंख्यात गुने जीव अधोलोक से मुक्त हुए हैं और उनसे भी असंख्यात गुने जीव मध्यलोक से मुक्त हुए हैं। तथा समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे कम हैं। उनसे संख्यात गुने जीव द्वीप से मुक्त हुए हैं। यह तो हुआ सामान्य कथन। विशेष कथन की अपेक्षा लवण समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुने जीव कालोदधि समुद्र से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुने जम्बुद्वीप से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यातगुने धातकीखण्ड से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यातगुने पुष्करार्ध से मुक्त हुए हैं। यह क्षेत्र की अपेक्षा अल्पबहुत्व हुआ। काल की अपेक्षा-उत्सर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। अवसर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव उनसे अधिक हैं। और बिना उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालमें मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं; क्योंकि पांचों महाविदेहों में न उत्सर्पिणी काल है और न अवसर्पिणी काल है फिर भी वहाँ से जीव सदा मुक्त होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में ही मुक्ति होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। गति की अपेक्षा-प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नय से तिर्यञ्च गति से आकर मनुष्य हो, मुक्त गये जीव सबसे थोड़े हैं। मनुष्य गति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। नरक गति से आकर मनुष्य हो मुक्त गये जीव उनसे संख्यात गुने हैं। और देवगति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। वेद की अपेक्षा-प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो वेद रहित जीव ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः अल्पबहुत्व नहीं हैं। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा नपुंसक लिंग से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। स्त्री वेद से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। और पुरुष वेद

के उदय से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। तीर्थकी अपेक्षा- तीर्थंकर होकर मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। सामान्य केवली होकर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। चारित्रकी अपेक्षा- प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राही नयकी अपेक्षा भी अव्यवहित चारित्र सबके यथाख्यात ही होता है, अतः अल्पबहुत्व नहीं है। अन्तर सहित चारित्र की अपेक्षा पाँचों चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं और चार चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। प्रत्येक बुद्ध थोड़े होते हैं। बोधित बुद्ध उनसे संख्यातगुने हैं। ज्ञान की अपेक्षा-प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सब जीव केवल ज्ञान प्राप्त करके ही मुक्त होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं हैं। अवगाहना - जघन्य अवगाहना से मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। भूतग्राही नयकी अपेक्षा दो ज्ञान से मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। चार ज्ञानसे मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। विशेषकथन की अपेक्षा मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। मति, श्रुत ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। मति, श्रुत और अवधि ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। उत्कृष्ट अवगाहनासे मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। और मध्यम अवगाहना से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। संख्या एक समय में एक सौ आठकी संख्या में मुक्त हुए जीव थोड़े हैं, एक समय में एक सौ सातसे लेकर पचास तक की संख्या में मुक्त हुए जीव उनसे अनन्त गुने हैं। एक समय में उनचास से लेकर पच्चीस तक की संख्या में मुक्त हुए जीव असंख्यात गुने हैं। एक समय में चौबीस से लेकर एक तक की संख्यामें मुक्त जीव उनसे संख्यात गुने हैं। इस प्रकार मुक्त हुए जीवों में वर्तमानकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है। जो भेद है वह भूतपर्याय की अपेक्षा ही है।

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेदशमोऽध्यायः॥१०॥

आध्यात्मिक भजन

ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै,
सो फेर न भव में आवै ॥टेक॥

संशय-विभ्रम-मोह विवर्जित स्व-पर स्वरुप लखावै।
लख परमातम चेतन को पुनि कर्म-कलंक मिटावै ॥१॥

भव-तन-भोग विरक्त होय तन नगन सुभेष बनावै।
मोह विकार निवार निजातम अनुभव में चित्त लावै ॥२॥

त्रस-थावर वध त्याग सदा परमाद दशा छिटकावै।
रागादिक वश झूठ न भाखें तृणहु न अदत्त गहावै ॥३॥

बाहिर नारि त्याग अन्तर चिदब्रह्म सुलीन रहावै।
परमाकिंचन धर्म सार सो द्विविध प्रसंग बहावै॥४॥

पञ्च समिति त्रय गुप्ति पाल व्यवहार-चरन मग धावै।
निश्चय सकल कषाय-रहित ह्वै शुद्धातम थिर थावै॥५॥

कुंकु-पंक दास-रिपु तृण-मणि व्याल-माल सम भावै ।
आरत रौद्र कुध्यान विडारे धर्म-शुकल को ध्यावै॥६॥

जाके सुखसमाज की महिमा कहत इन्द्र अकुलावै।
दौल तास पद होय दास सो अविचल ऋद्धि लहावै॥७॥

आध्यात्मिक भजन

खेल ले ऐसी होरी । मिले सुख संपति तोरी ॥टेक॥
अष्ट कर्म ईंधन संचय में, तप की अग्नि लगाओ ।
शुक्ल ध्यान की पवन चलाकर, ऊँची ज्वाल बढ़ाओ ।
हो प्रकाश चहुँ ओरी ॥१॥
निश्चय चरित सुधा सरसा कर, सारी भस्म बहाओ ।
निज परिणाम थान निर्मल कर, सुषमा सर्व सजाओ ।
हो प्रसन्न शिव गौरी ॥२॥
साधर्मी जन सांचे परिजन, तिन में प्रीति बढ़ाओ ।
फेंक प्रमोद गुलाल ज्ञान से, निज पर अंग रंगाओ ।
नमो जिन शिव रति जोरी ॥३॥
आतम अनुभव भोजन रचकर, खाओ और खिलाओ ।
नित्यानन्द अमंद मनोहर, सार अमर पद पाओ ।
रमे चित्त मंगल ओरी ॥

★ ★ ★ ★ ★

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता दृष्टा आतमराम ॥टेक॥
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥१॥
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥
सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहिं लेश निदान ॥३॥
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूँ जिनधाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥४॥
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ॥५॥